संस्कृत वाङ्मय





लेखक
बलदेव उपाध्याय
एम०-ए०, साहित्याचार्य

संस्कृत वाङ्मय

(संस्कृत के विराट् साहित्य का संक्षिप्त संपूर्ण विवेचन)

लेखक
बलदेव उपाध्याय, एम० ए० साहित्याचार्य,
प्रोफेसर संस्कृत तथा पाली विभाग,
हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

१९४५

प्रकाशक
शारदा मन्दिर
काशी

प्रथम संस्करण
मूल्य १)

मुद्रक
ह० मा० सप्रे,
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, जतनबर, काशी।

वक्तव्य

संस्कृत का साहित्य बड़ा विशाल, व्यापक तथा बहुमुखी है। इससे परिचय प्राप्त करना प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति का कर्तव्य है। परन्तु हिन्दी में ऐसे ग्रन्थ का अभाव था जिसमें इस विशाल-साहित्य का दिग्दर्शन संक्षेप में कराया गया हो। इसी कमी की पूर्ति के लिये यह लघुकाय ग्रन्थ पाठकों के सामने प्रस्तुत किया गया है। इसमें केवल मोटी मोटी बातों का ही वर्णन किया गया है। यहाँ न तो कवियों की जीवनी तथा समय के निरूपण करने का अवसर है और न उनकी कविता के उदाहरण देने का। साहित्य के विविध अङ्गों के विषय में नितान्त आवश्यक तथा उपयोगी बातों का ही संकलन यहाँ किया गया है। प्रयत्न किया गया है कि कोई महत्त्वपूर्ण बात छूटने न पावे। जो पाठक संस्कृत साहित्य के विषय में विशेष जानने के इच्छुक हैं उनके लिए मैंने स्वतन्त्र रूप से बड़ी पुस्तक लिखी है। उसे देखने की वे कृपा करें। यह पुस्तिका साधारण जिज्ञासुओं के लिये है और मेरा विश्वास है कि वे हमारे प्राचीन साहित्य की रूप-रेखा जानने में इससे बहुत कुछ सहायता ले सकते हैं। यदि इससे एक भी पाठक की ज्ञान-वृद्धि होगी, तो मैं अपने श्रम को सफल समझूँगा।

हिन्दू विश्वविद्यालय
श्रावण पूर्णिमा सं० २००२
२३—८—४५

बलदेव उपाध्याय

कवि काव्यप्रशस्तिः

सरसा सालङ्कारा सुपदन्यासा सुवर्णमयमूर्तिः ।
आर्या तथैव भार्या न लभ्यते पुण्यहीनेन ॥

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति प्रीतिं कीर्तिं च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥

ते धन्यास्ते महात्मानो तेषां लोके स्थिरं यशः ।
यैर्निबद्धानि काव्यानि ये च काव्येषु कीर्तिताः ॥

तत्त्वं किमपि काव्यानां जानाति विरलो भुवि ।
मार्मिकः को मरन्दानामन्तरेण मधुव्रतम् ॥

अवयः केवलकवयः कीराः स्युः केवलं धीराः ।
वीराः पण्डितकवयस्तानवमन्ता तु केवलं गवयः ॥

कतिपयनिमेषवर्तिनि
जन्मजरामरणविह्वले जगति ।
कल्पान्तकोटिबन्धुः
स्फुरति कवीनां यशःप्रसरः ॥

विषय सूची

संस्कृत वाङ्मय

प्रथम परिच्छेद

संस्कृत भाषा और साहित्य

हमारी संस्कृत भाषा संसारभर की भाषाओं में श्रेष्ठ तथा प्राचीनतम है। हमारा संस्कृत साहित्य समग्र सभ्य साहित्यों से प्राचीनता, व्यापकता तथा अभिरामता में बढ़कर है। आजकल अपनी सभ्यता पर गर्व करनेवाली जातियाँ जब जंगलों में घूम-घूमकर संकेतमात्र से अपने मनोगत भाव प्रकट किया करती थीं, तब भी हमारे पूर्वज आर्य लोग इसी देववाणी के द्वारा सरस्वती के किनारे भगवान की विभूतियों की पूजा में रहस्यमयी ऋचाओं का उच्चारण तथा सरस सामों का गायन किया करते थे। संसार में सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद ही हैं। और ये वेद इसी संस्कृत भाषा में आराधनीय ऋषियों के द्वारा आत्मा की आन्तरिक प्रेरणा से दृष्ट हुए हैं। अध्यात्म की समस्याओं को सुलझाने वाले उपनिषद् भी इसी भाषा में निबद्ध किये गये हैं। पृथ्वी की उत्पत्ति से लेकर प्रलय तक का विस्तृत तथा बहुरंगी इतिहास प्रस्तुत करनेवाले पुराण इसी भाषा में लिखे गये हैं। आर्यों की प्राचीन रीतियों, रूढ़ियों और परम्पराओं का सर्वाङ्गीण वर्णन उपस्थित करनेवाले धर्मशास्त्रों का निर्माण भी इसी भाषा में हुआ है। सारांश यह है कि लौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निःश्रेयस की सिद्धि के साधक जितने ज्ञान और विज्ञान हैं, जितने शास्त्र और पुराण हैं उन्हें एक जगह अवगत करने का उपाय इसी संस्कृत भाषा के द्वारा है। एक वाक्य

में हम कह सकते हैं कि हमारा संस्कृत साहित्य 'परा' तथा 'अपरा' विद्याओं का मनोरम भाण्डागार है और इसके रहस्यों का पता संस्कृत भाषा के द्वारा ही किया जा सकता है। इन्हीं सब कारणों से हमारी संस्कृत भाषा परम महनीय तथा उपादेय, प्राचीन तथा विद्वानों के द्वारा सेवनीय है।

संस्कृत साहित्य का महत्त्व

संस्कृत साहित्य—संसार के सभ्य साहित्यों में हमारा संस्कृत साहित्य अनेक दृष्टियों से अनुपम तथा अद्वितीय है। सर्वप्रथम प्राचीनता की दृष्टि में यह साहित्य बेजोड़ है। पश्चिमी विद्वानोंने मिश्रदेश का साहित्य सबसे प्राचीन माना है। परन्तु वह भी विक्रम के ४ हजार वर्ष पूर्व से अधिक प्राचीन नहीं है। परन्तु हमारे वेदों की रचना लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के अभ्रान्त ज्यौतिष गणना के अनुसार ६ हजार वर्ष विक्रम से भी पूर्वकाल में हुई। तब से लेकर आजतक यह साहित्य बराबर बढ़ता ही गया है। वेदों के मंत्र संहिताओं के रूप में निबद्ध हैं। अनन्तर उनके व्याख्या ग्रन्थ जिन्हें ब्राह्मण के नाम से पुकारते हैं लिखे गये। अनन्तर आरण्यकों और उपनिषदों की रचना हुई। अनन्तर रामायण महाभारत और पुराणों का युग आता है। इसके बाद काव्य, नाटक, गद्य, पद्य, कथा, आख्यायिका, स्मृति और तंत्र के निर्माण का समय आता है जो आज भी किसी न किसी रूप में वर्तमान है। इस प्रकार संस्कृत साहित्य की अविच्छिन्न धारा आठ सहस्र वर्षों से निरन्तर चली आती है इस प्रकार प्राचीनता तथा अविच्छिन्नता की दृष्टि से यह साहित्य अत्यन्त महत्त्वशाली है, इसमें किसी प्रकार सन्देह नहीं है।

व्यापकता

व्यापकता की दृष्टि से भी यह साहित्य गौरवशाली है। धर्म,

अर्थ, काम और मोक्ष—मानव जीवन के इन चार पुरुषार्थों के ऊपर ग्रन्थ प्रस्तुत करने का श्रेय इसे ही प्राप्त है। साधारण लोगों की यह धारणा बनी हुई है कि संस्कृत साहित्य में केवल धर्मग्रन्थों का ही बाहुल्य है। परन्तु यह धारणा भ्रान्त ही है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र विक्रम से पूर्व तृतीय शतक के भारतवर्ष को राजनीतिक तथा सामाजिक दशा का नितान्त अभिराम चित्र प्रस्तुत करता है। वात्स्यायन मुनि ने कामसूत्र में गार्हस्थ्य जीवन के उपयोगी समस्त साधनों का वर्णन थोड़े में अच्छे ढंग से किया है। मोक्षोपयोगी दर्शनशास्त्र तो भारत की अनमोल सम्पत्ति है। विज्ञान, ज्यौतिष, वैद्यक, स्थापत्य कला-कौशल, पशु-पक्षी सम्बन्धी लक्षण-ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में प्रचुरमात्रा में विद्यमान हैं। धर्मग्रन्थों का तो कहना ही क्या ? समस्त मानव-समाज के धर्म तथा अध्यात्म-विषयक सिद्धान्त को प्रतिपादन करनेवाले वेद संस्कृत साहित्य की दिव्य विभूति हैं। वेद धर्म तथा अध्यात्म का वह दिव्य मान-सरोवर है जहाँ से नाना प्रकार की धार्मिक धारायें निकलकर मानव-हृदय तथा मस्तिष्क को सदा से आप्यायित करती आई हैं। हम भारतवासियों के लिये तो उनका अध्ययन आवश्यक है ही। अन्यधर्मावलम्बियों के लिए भी उनका अनुशीलन उपादेय है। वेदों के अनुशीलन का फल है कि पश्चिमी विद्वानों ने 'तुलनात्मक पुराण शास्त्र' जैसे नवीन शास्त्र का निर्माण किया है। इससे पता चलता है कि प्राचीन काल में देवताओं के विषय में कौन से विचार थे। किस प्रकार से वे उपासना किया करते थे आदि।

सांस्कृतिक मूल्य

सांस्कृतिक तथा *कलात्मक* दृष्टि से हमारा साहित्य विश्वसाहित्य में गौरवपूर्ण स्थान रखता है। भारतीय इतिहास तथा संस्कृत के

अध्ययन के लिये सबसे अधिक सामग्री यहीं उपलब्ध होती है। भारतीय लोग अन्य देशों में अपने प्रभुत्व, अपनी सभ्यता तथा अपनी संस्कृति फैलाने में सदा से उद्योगशील रहे हैं। भारत के पूर्व का समस्त प्रदेश भारतीय संस्कृति से प्रभावित हुआ है। हिन्द-चीन, सुमात्रा (सुवर्ण द्वीप), जावा (यव-द्वीप), बालि, कम्बोज आदि समस्त प्रान्तों की सभ्यता का निर्माण इसी साहित्य के द्वारा आर्यों ने किया है। आर्यावर्ती वर्णमाला तथा वाङ्मय के संसर्ग से यहां की स्थानीय बोलियाँ लिखित भाषायें बन गईं और धीरे-धीरे यहाँ साहित्य का विकास होने लगा। यहाँ जो वाङ्मय विकसित हुआ वह पूर्णरूपेण भारतीय था। इस प्रकार कम्बोज को 'ख्मेर' भाषा, चम्पा की 'चम' भाषा तथा जावा की 'कवि' भाषा आर्यावर्त की वर्णमाला में लिखी गईं। संस्कृत साहित्य से आवश्यक उपादान ग्रहण कर सुन्दर तथा कल्याणकारी साहित्य का निर्माण किया गया। इन देशों के निवासी हम लोगों के समान ही रामलीला तथा अर्जुनलीला देखकर आज भी अपना चित्तविनोद किया करते हैं। बालीद्वीप के निवासी आज भी वैदिक मंत्रों का उच्चारण कर अपने धार्मिक कृत्यों का अनुष्ठान करते हैं। मंगोलिया की मरुभूमि में भी बौद्धसाहित्य के साथ ब्राह्मणसाहित्य भी पहुँचा। इस प्रकार बृहत्तर भारत को सभ्य बनाने में हमारे साहित्य का विशेष हाथ है।

सौन्दर्य-सृष्टि

विशुद्ध कला की दृष्टि से यह साहित्य अपनी विशेषता रखता है। जिस साहित्य में कमनीय कविता के स्रष्टा कालिदास हुए, मानव हृदय के परम पारखी, सरस्वती के अनुपम लास्य दिखलाने वाले भवभूति जैसे नाटककार हुए, त्रिलोकसुन्दरी कादम्बरी की

कमनीय कथा सुना-सुनाकर श्रोताओं को मत्त बनानेवाले बाणभट्ट जैसे लब्धप्रतिष्ठा लेखक हुए, कोमल कान्त पदावली के द्वारा विदग्धों के हृदय में मधुर रस की वर्षा करनेवाले जयदेव जैसे गीतिकाव्य के लेखक विद्यमान थे, काव्य और दर्शन के अपूर्व संमिलन दिखलानेवाले श्रीहर्ष जैसे कवि-पण्डित ने अपनी सुन्दर शब्द तूलिका से जिसे चित्रित कर रम्य आकार प्रदान किया, उस साहित्य की कलात्मक दृष्टि से उपयोगिता बतलाना नितान्त उपहास्यास्पद व्यापार होगा। सच तो यह है कि प्राचीनता, अविच्छिन्नता, व्यापकता, कलात्मकता आदि किसी भी दृष्टि से संस्कृत साहित्य को परखा जाय, यह सर्वथा अनुपम ही सिद्ध होता है।

संस्कृत भाषा

संस्कृत भाषा के दो रूप हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं (१) वैदिक और (२) लौकिक। वैदिक भाषा में संहिता तथा ब्राह्मण की रचना हुई है। लौकिक संस्कृत में वाल्मीकि रामायण, महाभारत, पुराण तथा काव्य-नाटकों का निर्माण हुआ है। वैदिक भाषा नितान्त प्राचीन है। बहुत से प्रयोग तथा शब्द आजकल के संस्कृत में प्रचलित नहीं हैं। लौकिक संस्कृत को नियमबद्ध करने का समस्त श्रेय महावैयाकरण महर्षि पाणिनि को है जिन्होंने अष्टाध्यायी में संस्कृत के नियमबद्ध करनेवाले सूत्रों की रचना की है। उस समय संस्कृत देश की राष्ट्रवाणी थी—सब लोग इसी भाषा के द्वारा अपने विचार प्रकट करते थे। विक्रमपूर्व द्वितीय शतक में जब पतञ्जलि ने अपना महाभाष्य लिखकर अष्टाध्यायी को और भी पुष्ट तथा विशद किया—यह शिष्टों की भाषा थी। उस समय भी ऐसे लोग थे जो व्याकरण के ज्ञान बिना भी संस्कृत भाषा बोलते थे। विक्रम के पश्चात् गुप्त तथा वर्धन काल में संस्कृत

राजभाषा रही। राजाओं की ओर से जो शासनपत्र, जो शिला-लेख लिखे जाते थे वे सब संस्कृत भाषा में ही लिखे जाते थे।

संस्कृत-जात भाषायें

संस्कृत को मृतभाषा बतलाकर अवहेलना करना नितान्त अनुचित है। उसका प्रभाव केवल भारतीय भाषाओं के ऊपर नहीं है, अपितु समस्त एशिया खण्डके भाषाओं के ऊपर है। संस्कृत से ही पाली, प्राकृत, तथा अपभ्रंश क्रमशः एक के बाद एक निकलती गई। इन भाषाओं में भी विपुल साहित्य है जो धीरे धीरे प्रकाशित हो रहा है। हीनयानी बौद्धधर्म का साहित्य पालीभाषा में ही निबद्ध है जिसे 'त्रिपिटक' कहते हैं—(१) सुत्त पिटक = बुद्ध के अध्यात्मविषयक उपदेश (२) विनय पिटक = भिक्षु, भिक्षुणी तथा संघके नियमों का विस्तृत उपदेश। (३) अभिधम्म पिटक = बौद्धधर्म के अध्यात्मविषयक सिद्धान्तों का वर्णन। जैनियों के मूल धर्मग्रन्थ (अङ्ग) अर्धमागधी प्राकृत में निबद्ध हैं जो प्राकृतों में सबसे प्राचीन है। प्राकृतों के चार मुख्य भेद हैं—(१) महाराष्ट्री (२) शौरसेनी (३) मागधी (४) पैशाची। महाराष्ट्री में गाथा-सप्तशती (द्वितीय शतक), सेतुबन्ध (पञ्चम शतक) गउडवहो (अष्टम शतक) आदि उत्तम काव्य निर्मित हुए हैं। शौरसेनी नाटकों के स्त्रीपात्रों की बोलचाल की भाषा है। मागधी नाटक के अधम पात्रों की बोली है। पैशाची में गुणाढ्य ने 'बृहत् कथा' नामक अद्भुत कथा निबद्ध की। अपभ्रंश साहित्य भी मात्रा में कम नहीं है। वह धीरे धीरे प्रकाश में आ रहा है। जैनियों का अपभ्रंश साहित्य के विकाश में बड़ा हाथ रहा है। वज्रयानी सिद्धों की वाणी भी मागध अपभ्रंश में कही गई है। इन्हीं अपभ्रंशों से भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषायें उत्पन्न हुईं।

द्वितीय परिच्छेद

वैदिक साहित्य

संस्कृत साहित्य के इतिहास को हम दो बड़े विभागों में बांटते हैं—*वैदिक साहित्य* जिसके अन्तर्गत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा वेदाङ्ग साहित्य की गणना की जाती है। दूसरा *लौकिक संस्कृत साहित्य* जिसके अन्तर्गत काव्य, नाटक, कथा, अलंकार शास्त्र तथा वैज्ञानिक साहित्य का समावेश किया जाता है। इन दोनों कालखण्डों को जोड़ने का काम रामायण, महाभारत तथा पुराणों के द्वारा किया जाता है। इन समस्त साहित्यिक धाराओं का संक्षेप में वर्णन करना इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है।

वेद

वेद हमारे धर्म के सर्वस्व हैं। वे महर्षियों के द्वारा अनुभव किये गये तत्त्वों के साक्षात् प्रतिपादक हैं। वेदों के ऊपर अवलम्बित होने के कारण हमारा धर्म 'वैदिक धर्म' के नाम से प्रसिद्ध है। वेद के अनुकूल सिद्धान्तों के प्रतिपादक होने के कारण ही पुराण तथा स्मृति भी हमारे लिये मान्य हैं। वेद संसार के ग्रन्थों में सबसे प्राचीन है। आर्यों की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति, समाज तथा धर्म के जानने का एकमात्र प्राचीन साधन यहीं उपलब्ध होता है। वेदों की भाषा प्राचीनतम भाषा है। आर्य-भाषा के मूलरूप जानने में वैदिक भाषा ही हमारी सहायता करती है। वेद के प्रधानतया दो विभाग हैं—मंत्र और ब्राह्मण (मन्त्रब्राह्मणत्मको वेदः)। किसी देवताविशेष की स्तुति में प्रयुक्त हानेवाले अर्थ को स्मरण करानेवाले वाक्य 'मन्त्र' कहलाते हैं। मन्त्रों के समुदाय का नाम 'संहिता' है। ब्राह्मणग्रन्थ में यज्ञ-याग का

बहुत ही विस्तृत वर्णन है। ये एक प्रकार से मंत्रों के विस्तृत व्याख्याग्रन्थ हैं जिनमें स्थान स्थान पर प्राचीन आख्यान, शब्दों की व्युत्पत्ति, अनेक ज्ञातव्य समाजिक बातें तथा ज्यौतिष के सिद्धान्त दिये गये हैं। ब्राह्मणों के तीन खण्ड हैं (१) ब्राह्मण (२) आरण्यक (३) उपनिषद्। इन समग्र ग्रन्थों का नाम श्रुति है।

संहितायें

मन्त्रों की संहितायें चार हैं—ऋक् संहिता, यजुः संहिता, साम-संहिता तथा अथर्व संहिता। इन संहिताओं का संकलन महर्षि वेदव्यास ने यज्ञ की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर किया। यज्ञ के लिये चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है—(१) होता (२) अध्वर्यु (३) उद्गाता (४) ब्रह्मा। 'होता' शब्द का अर्थ पुकारनेवाला है। होता यज्ञ के अवसर पर विशिष्टदेवता के प्रशंसात्मक मंत्रों का उच्चारण कर उस देवता का आह्वान करता है। उसके लिये आवश्यक मंत्रों का संकलन ऋक्संहिता में किया गया है। 'अध्वर्यु' का काम यज्ञों का विधिवत् संपादन है। उसके लिये आवश्यक मंत्रों का समुदाय यजुःसंहिता कहलाता है। 'उद्गाता' शब्द का अर्थ ऊँचे शब्द से गानेवाला है। उसका काम ऋचाओं के ऊपर स्वर लगाकर उन्हें उचित स्वर में गाना होता है। इस कार्य के लिये सामवेद का संकलन किया गया है। 'ब्रह्मा' नामक ऋत्विज् का काम यज्ञ के अनुष्ठान को पूर्णरूप से निरीक्षण करना होता है, जिससे उस अनुष्ठान में किसी प्रकार की त्रुटि न हो। यज्ञ का निर्दोष अनुष्ठान ही फलदायक होता है। ब्रह्मा को समग्र वेदों का ज्ञाता होना चाहिये। पर उसका विशिष्ट वेद अथर्ववेद ही है। वेद को 'त्रयी' के नाम से पुकारते हैं। इसका कारण यह है कि इसमें तीन वस्तुयें प्रधानतया पाई जाती हैं—ऋक्, यजुः

और साम। पाद से युक्त छन्दोबद्ध मन्त्रों को 'ऋक्' या ऋचा कहते हैं। ऋचाओं के विविध स्वरों में गायन को 'साम' कहते हैं। इन दोनों से अलग गद्यात्मक भाग को 'यजुः' कहते हैं। श्रुति में इन्हें तीनों की प्रधानता होने के कारण इसे त्रयी के नाम से पुकारते हैं।

इन चारों संहिताओं में ऋक्संहिता सबसे प्राचीन है। अन्य संहिताओं के बहुत से मंत्र ऋग्वेद से ही लिये गये हैं। सामवेद तो पूरा का पूरा ऋग्वेद से ही बना हुआ है। ऋग्वेद एक ग्रन्थ न होकर एक विशालकाय ग्रन्थ-समूह है। इसके दो प्रकार के विभाग मिलते हैं—(१) अष्टक, अध्याय और सूक्त (२) मण्डल, अनुवाक और सूक्त। पाठ के सुभीते के लिये पूरा ऋग्वेद आठ खण्डों में बाटा गया है जिन्हें 'अष्टक' कहते हैं। प्रत्येक अष्टक में आठ अध्याय हैं। और इस प्रकार पूरे ऋग्वेद में आठ अष्टक अथवा चौसठ अध्याय हैं। ऋग्वेद का मण्डलों में विभाग ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। समस्त ऋग्वेद दश मण्डलों में विभक्त है। इसीलिये ऋग्वेद को 'दशतयी' कहते हैं। मण्डलों के अवान्तर खण्ड सूक्त कहलाते हैं तथा सूक्तों के खण्डों को ऋचायें कहते हैं। ऋग्वेद के सूक्तसंख्या में १०२८ तथा मंत्र ११००० के लगभग हैं। यजुर्वेद के दो भेद हैं—कृष्णयजुः और शुक्लयजुः। कृष्णयजुर्वेद में छन्दोबद्ध मंत्र तथा गद्यात्मक विनियोगों का मिश्रण है। इसी मिलावट के कारण वह 'कृष्ण' के नाम से अभिहित किया जाता है। शुक्लयजुर्वेद में गद्यात्मक विनियोगों का अभाव है। उसमें केवल अध्वर्यु कर्म के उपयोगी मन्त्रों का ही संकलन है। यही उसकी 'शुक्लता' का रहस्य है। शुक्लयजुर्वेद की दो प्रधान शाखायें हैं—माध्यन्दिन शाखा और काण्वशाखा, जिनमें पहली उत्तर भारत में और दूसरी महाराष्ट्र में

उपलब्ध होती है। कृष्णयजुर्वेद की केवल चार शाखाएं इस समय उपलब्ध हैं—(१) तैत्तिरीय (२) मैत्रायणी (३) काठक (४) कठ-कापिष्ठल। सामवेद में लगभग डेढ़ हजार मंत्र हैं जिनमें ७५ ऋचायें स्वतंत्र हैं जो ऋग्वेद में उपलब्ध नहीं होतीं। साम-संहिता के दो खण्ड हैं—पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। सुना जाता है कि सामवेद की हजार शाखायें थीं—'सहस्रशाखः सामवेदः'। परन्तु आजकल केवल तीन ही शाखायें उपलब्ध होती हैं—(१) कौथुम (गुजरात में) (२) राणायणी (कर्नाटक में) (३) जैमिनीय (सुदूर दक्षिण में) अथर्ववेद की केवल एक शाखा है—शौनक शाखा। इसके खण्डों को काण्ड कहते हैं। अथर्ववेद में २० काण्ड हैं और लगभग ६ हजार मंत्र हैं। मंत्र संहिताओं का यही सामान्य परिचय है।

वैदिक देवता

देवता—ऋग्वेद में भिन्न भिन्न देवताओं के विषय में स्तुतियाँ हैं। निरुक्त के रचयिता महर्षि यास्क ने स्थान की दृष्टि से देवताओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—पृथिवी-स्थान, अन्तरिक्ष-स्थान तथा द्युस्थान। पृथ्वी में रहनेवाले देवताओं में अग्नि सबसे बढ़कर है। ऋग्वेद के सबसे अधिक मंत्र इसी अग्नि के विषय में हैं। अन्तरिक्ष में रहनेवाले देवताओं में इन्द्र का स्थान तथा आकाश में रहनेवाले देवताओं में सूर्य, सविता या विष्णु आदि सौर देवताओं का स्थान महत्त्वपूर्ण है। वैदिक देवताओं में वरुण का स्थान अत्यन्त उच्च है। सर्वज्ञ, शुभ अशुभ कर्मों के द्रष्टा तथा अनुरूप फलदाता वरुण के कारण ही जगत् में 'ऋत' का साम्राज्य है। वज्रबाहु वृत्रहन्ता इन्द्र दस्युओं के ऊपर आर्य लोगों को विजय प्रदान करते हैं। इन्द्र वृष्टि के देवता हैं। वृत्र के द्वारा

रोकी गई सप्तसिन्धुओं को गति प्रदान करते हैं। विष्णु क्रियाशील सूर्य के प्रतिनिधि हैं जिन्होंने तीन ही पगों में विश्व को माप डाला है। इसीलिये वे 'त्रिविक्रिम' या 'उरुगाय' नाम से अभिहित किये जाते हैं। वैदिक देवियों में उषा की कल्पना नितान्त रोचक तथा प्रतिभापूर्ण है। सोने के रथपर चढ़कर निकलनेवाली पुराणी युवति उषा के वर्णन में वैदिक ऋषियों ने बड़े ऊँचे कवित्व का परिचय दिया है। इन देवताओं का प्राकृतिक दृश्यों काप्रतिनिधि मानना उचित नहीं है। वैदिक ऋषियों ने इस नानात्मक जगत् के भीतर सर्वत्र व्याप्त होनेवाली सत्ता का पता लगाया था। इसे ही वे परमात्मा या ईश्वर के नाम से पुकारते हैं। देवता लोग इस सर्व-व्यापी परमात्मा के भिन्न भिन्न प्रतीक हैं। परमात्मा एक ही है और ये देवता लोग उसी के अङ्गमात्र हैं। वैदिकधर्म के रहस्य जानने के लिये इस देवतातत्त्व को भलीभांति समझना आवश्यक है।

ब्राह्मण ग्रन्थ

संहिताओं के अनन्तर ब्राह्मण ग्रन्थों का समय आता है। 'ब्रह्मन्' शब्द का एक अर्थ है—यज्ञ और यज्ञ से सम्बन्ध रखने के कारण ही यह समस्त साहित्य ब्राह्मण नाम से अभिहित किया जाता है। यज्ञानुष्ठान के वर्णन के साथ ही साथ अनेक आख्यान, शब्दों की व्युत्पत्ति तथा प्राचीन राजाओं और ऋषियों की कहा-नियाँ भी यहां मिलती हैं जिससे 'ब्राह्मणों' का महत्त्व अनेक दृष्टियों में विशिष्ट सिद्ध होता है। 'आरण्यक' ब्राह्मणके ही उत्तर भाग हैं। 'आरण्यक' शब्द ही का अर्थ जंगल में पढ़ने योग्य ग्रन्थ है। ब्राह्मण गृहस्थों के निमित्त हैं, तो आरण्यक वानप्रस्थों के लिए—उन पुरुषों के लिए जो घर से दूर जंगल में रहकर अपना जीवन बिताते हैं। आरण्यकों में यज्ञ के भीतर विद्यमान दार्शनिक

तत्त्व का विवेचन है। यज्ञों का अभिप्राय केवल देवताविशेष के घृत तथा सोम का दानमात्र ही नहीं बल्कि उनका अर्थ बहुत गहरा है, इसका पता आरण्यकों से चलता है। ब्राह्मण साहित्य कम उपलब्ध है। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं–ऐतरेय और कौषीतकी, जिनमें ऐतरेय अधिक प्रसिद्ध है। इसमें ४० अध्याय अथवा ८ पंचिकायें (पांच अध्यायों का समूह) हैं। कौषीतकी में केवल ३० अध्याय हैं। ऋग्वेद के दो आरण्यक भी हैं—ऐतरेय आरण्यक तथा सांख्यायन आरण्यक। सामवेद के साथ सम्बद्ध बहुत से ब्राह्मण हैं जिनमें 'ताण्ड्य' ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ है। यह पचीस अध्यायों में विभक्त विपुलकाय ग्रन्थ है। इसीलिये इसको 'पञ्चविंश' ब्राह्मण भी कहते हैं। कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय आरण्यक हैं। शुक्लयजुर्वेद का ब्राह्मण 'शतपथ ब्राह्मण' के नाम से विख्यात है, क्योंकि इसमें १०० अध्याय है। ऋग्वेद के अनन्तर यह ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसमें यज्ञों का विस्तृत वर्णन तो है ही, साथ ही साथ अनेक प्राचीन आख्यानों तथा अनेक सामाजिक बातों का संग्रह है। अथर्ववेद का ब्राह्मण 'गोपथ ब्राह्मण' के नाम से विख्यात है। इसमें केवल दो खण्ड हैं जिनमें पहले में केवल पांच अध्याय हैं, दूसरे में छः। ब्राह्मण साहित्य में यह ब्राह्मण कुछ अर्वाचीन माना जाता है।

उपनिषद्

उपनिषद् शब्द उप तथा नि उपसर्गक सद् धातु से बना हुआ है। सद् धातु के तीन अर्थ हैं—नाश होना, प्राप्त होना तथा शिथिल करना। जिस विद्या के अध्ययन करने से मुमुक्षु लोगों की अविद्या नष्ट हो जाती है, जो विद्या उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति करा

देती है तथा जिसके अभ्यास से गर्भवास आदि नाना प्रकारक दुःख शिथिल हो जाते हैं उस अध्यात्मविद्या का वाचक 'उपनिषद्' शब्द है। इसका गौण अर्थ ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। वैदिक साहित्य में उपनिषदों का स्थान सबके अन्त में आता है। इसीलिये इन्हें वेद का अन्त या 'वेदान्त' भी कहते हैं। उपनिषदों की संख्या १०८ है परन्तु निम्नलिखित ११ उपनिषद् वेदान्त के प्रसिद्ध आचार्यों के द्वारा भाष्यों से विभूषित किये जाने के कारण नितान्त महत्त्वपूर्ण तथा प्रसिद्ध माने जाते हैं:—(१) ईश (२) केन (३) कठ (४) प्रश्न (५) मुण्डक (६) माण्डूक्य (७) तैत्तिरीय (८) ऐतरेय (९) छान्दोग्य (१०) बृहदारण्यक (११) श्वेताश्वतर। इन उपनिषदों में कुछ गद्यात्मक हैं, कुछ पद्यात्मक और कतिपय गद्य पद्यात्मक उभयरूप। इन उपनिषदों में भी छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक भाषा तथा सिद्धान्त की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण तथा प्राचीन माने जाते हैं।

अब उपनिषद् विश्व-साहित्य का अंग बन गया है। भारत के महर्षियों ने अपने प्रातिभ चक्षु से जिन आध्यात्मिक तत्त्वों का प्रत्यक्ष किया था उन्हीं का भाण्डार उपनिषदों में भरा हुआ है। भारतीय सभ्यता का आध्यात्मिक भावों से भरने का श्रेय इन्हीं ग्रन्थरत्नों को है। विदेशी विद्वान् उपनिषदों को भारतीय सभ्यता की महती देन बतलाते हैं। १६ वीं शताब्दी में दाराशिकोह ने सबसे पहले चुने हुए ५० उपनिषदों का फारसी में अनुवाद किया। इसी अनुवाद का अधूरा अनुवाद लैटिन भाषा में, किया गया जिसका विशेष प्रभाव जर्मनी के उच्च दार्शनिक 'शोपेन होवर' के सिद्धान्त पर पड़ा। यह विद्वान् दार्शनिक अपनी गुरुत्रयी में प्लेटो और कैन्ट के साथ उपनिषदों को स्थान देता है तथा इसे 'मानव मस्तिष्क की सबसे ऊँची तथा पूर्ण रचना' बतला-

कर अपने जीवन तथा मरण में अनन्त शान्ति तथा संतोष प्रदान करनेवाला ग्रन्थ मानता है।

सिद्धान्त

अध्यात्मवेत्ता ऋषियों ने सतत परिवर्तनशील जगत् के मूल में विद्यमान रहनेवाले शाश्वत तत्व को ढूँढ़ निकाला जिसका नाम 'ब्रह्म' है। जीवात्मा तथा ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद नहीं है। दोनों एक ही तत्त्व हैं। इसी अभिन्नता का प्रतिपादन उपनिषद् का मूल सिद्धान्त है। ब्रह्म के दो स्वरूप है—सगुण और निर्गुण। सगुण रूप में इस जगत् को वह उत्पन्न करता है। स्थिति काल में प्राण धारण करता है तथा प्रलयकाल में इस जगत् को अपने में लीन कर लेता है। इससे बढ़कर उसका निर्गुण रूप है। ब्रह्म का प्रतिपादन शब्दों के द्वारा नहीं हो सकता। इसीलिए उपनिषद् उसके लिए 'नेति' 'नेति' शब्द का प्रयोग करता है। इस ब्रह्म का साक्षात्कार ही उपनिषदों का चरम लक्ष्य है। हिन्दू दर्शन में तीन 'प्रस्थान ग्रन्थ 'हैं जो वैदिक धर्म के अनुसार गन्तव्य स्थान तथा मार्ग के प्रतिपादक हैं। इस प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत उपनिषद् ही सर्वप्रथम हैं। उपनिषदों का सार प्रस्तुत करनेवाली गीता द्वितीय है। तथा उपनिषदों के वाक्यों वा समन्वय तथा अभिप्राय दिखलाने वाले बादारायण व्यास के द्वारा रचित ब्रह्मसूत्र तृतीय हैं। ये दोनों उपनिषद् पर आश्रित हैं। अतः उपनिषद् ही भारतीय दर्शन का मूलस्रोत है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। बाहर संस्कृत साहित्य का जहाँ कहीं प्रचार है वहाँ उपनिषदों की ओर विद्वानों का आकर्षण बहुत ही अधिक है।

वेदाङ्ग-साहित्य

ब्राह्मणकाल के अनन्तर सूत्रकाल का आरम्भ होता है। अब इस काल में हम श्रुति से हटकर स्मृति में आते हैं। इन ग्रन्थों की रचना भी बड़ी विलक्षण है। छोटे छोटे अल्प अक्षरों के द्वारा विपुल अर्थों के प्रदर्शन का उद्योग किया गया है। यज्ञ-याग का इतना अधिक विस्तार हो गया था कि उसे याद करने के लिये ऐसे छोटे छोटे ग्रन्थों की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस काल में जो ग्रन्थ रचे गये वे वेद के अर्थ तथा विषय को समझाने के लिये नितान्त उपयोगी हैं। इसी लिये इन्हें वेद का अङ्ग या वेदाङ्ग कहते हैं। ये वेदाङ्ग छः हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द तथा ज्यौतिष। इनमें व्याकरण वेद का मुख है, ज्यौतिष नेत्र, निरुक्त श्रोत्र, कल्प हाथ, शिक्षा नासिका, छन्द दोनों पाद। इस प्रकार वेदाङ्ग का वेद के साथ सम्बन्ध है।

(१) *शिक्षा*—उन ग्रन्थों को कहते हैं जिनकी सहायता से वेदों के उच्चारण का भलीभांति ज्ञान प्राप्त हो जाय। वेद-पाठ में स्वरों का बड़ा महत्व है। स्वर की गलती होने के कारण महान् अनर्थ हो जाता है। अतः स्वर की शिक्षा के लिये एक अलग वेदाङ्ग की रचना की गई। प्रत्येक वेद की अलग अलग शिक्षा है। याज्ञवल्क्य शिक्षा शुक्ल यजुर्वेद की है और नारदशिक्षा सामवेद की है। पाणिनि की बनाई हुई भी एक बहुत प्रसिद्ध शिक्षा है जो 'पाणिनीय शिक्षा' कहलाती है।

(२) छन्द—छन्द का विना ज्ञान प्राप्त किये हुए वेदमन्त्रों का ठीक ठीक उच्चारण नहीं हो सकता। मन्त्र छन्दोबद्ध हैं अतः छन्द का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। शौनकविरचित ऋक्प्रातिशाख्य के अन्त में छन्दों का पर्याप्त विवेचन है परन्तु इस वेदाङ्ग का एक-मात्र स्वतन्त्र ग्रन्थ है 'पिंगल' जो किसी पिंगल नामक आचार्य

के द्वारा रचा गया था। इस ग्रन्थ में वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का वर्णन मिलता है।

(३) *निरुक्त*—इस वेदाङ्ग में शब्दों की दिखलाई गयो है। वेद के अर्थ जानने के लिये व्युत्पत्ति की बड़ी आवश्यकता है आजकल केवल एक ही निरुक्त उपलब्ध होता है और इसके रचयिता महर्षि 'यास्क' हैं। बहुत प्राचीन काल से 'निघण्टु' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं जिसमें वेद के कठिन शब्दों की एक क्रमबद्ध तालिका है। इसी ग्रन्थ पर यास्क ने यह विस्तृत भाष्य बनाया जो 'निरुक्त' के नाम से प्रसिद्ध है। यास्क का मत है कि समस्त शब्द धातुओं से उत्पन्न हुए हैं। अतः उनकी उत्पत्ति दिखलाने का प्रयत्न भी इस ग्रन्थ में किया गया है। यास्क पाणिनि से पहले हैं अतः इनका समय ईस्वी से पूर्व सात सौ वर्ष के लगभग होना चाहिये।

(४) *व्याकरण*—इस वेदाङ्ग का एकमात्र उद्देश्य वेदों के अर्थ को समझना तथा वेदार्थ की रक्षा करना है। आजकल पाणिनि व्याकरण ही इस वेदाङ्ग का एकमात्र प्रतिनिधि है। परन्तु व्याकरण पाणिनि से पुराना है। पाणिनि ने आठ अध्यायों में सूत्ररूप से व्याकरण लिखा है जो 'अष्टाध्यायी' के नाम से विख्यात है। उनके पहले भी गार्ग्य, स्फोटायन, शाकटायन, भारद्वाज आदि अनेक आचार्य थे जिनका उल्लेख पाणिनि ने अष्टाध्यायी में किया है। इनसे भी पहले प्रातिशाख्य नामक ग्रन्थ थे जिनमें स्वर, छन्द के साथ व्याकरण का भी विशेष वर्णन था। ऐसे ग्रन्थ प्रत्येक शाखा के अलग अलग थे। आजकल ऋग्वेद से सम्बद्ध शौनक प्रतिशाख्य तथा शुक्लयजु का कात्यायन प्रातिशाख्य विशेष प्रसिद्ध है। अन्य वेदों के भी प्रातिशाख्य विशेष प्रसिद्ध हैं।

(५) *ज्यौतिष*—वेद के अंगों में इसका विशेष महत्व है। वेद यज्ञ के प्रतिपादन के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं और काल के उचित

निवेश से यज्ञ का सम्बन्ध है। इसी लिए ज्यौतिष को काल का विधायक शास्त्र कहते हैं। जो व्यक्ति ज्यौतिष को जानता है वह यज्ञ को जानता है। इसका प्रतिनिधि 'वेदाङ्ग ज्यौतिष' है। इसके रचयिता का नाम 'लगध' है। इसके दो संस्करण उपलब्ध हैं। एक यजुर्वेदसम्बद्ध और दूसरा ऋग्वेद से सम्बद्ध। याजुष ज्यौतिष में ४३ श्लोक हैं तथा आर्च में केवल ३६। सामान्यतः श्लोक एक ही प्रकार के हैं। इसके कतिपय श्लोकों का अर्थ अभी तक ठीक ठीक नहीं लगता। 'सोमाकर' की प्राचीन टीका तथा सुधाकर द्विवेदी का नया 'सुधाकर' भाष्य प्रसिद्ध है।

(६) *कल्पसूत्र*—कल्पसूत्र दो प्रकार के हैं—श्रौत सूत्र तथा स्मार्त सूत्र। स्मार्त सूत्रों के दो भेद हैं—गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र। 'श्रौत' शब्द का अर्थ है श्रुति (वेद) से सम्बद्ध यज्ञ-याग। अतः श्रौतसूत्रों में तीन प्रकार के अग्नियों (आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि) के आधान, अग्निहोत्र, दर्श तथा पौर्णमास नामक इष्टियाँ, पशुयाग, विशेषतः भिन्न प्रकार के सोमयागों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार श्रौतसूत्रों में भारतीय याग-पद्धति का मूलस्वरूप जानने के लिए सबसे प्राचीन तथा पर्याप्त सामग्री है। गृह्यसूत्रों में उन अनुष्ठान, आचार तथा यागों का वर्णन है जिसका करना प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ के लिये आवश्यक है। विशेषतः षोडश संस्कारों का वर्णन गृह्यसूत्रों में बड़े विस्तार से किया गया है जिसमें उपनयन तथा विवाह का वर्णन बड़े ही साङ्गोपाङ्ग रूप से है। इन ग्रन्थों के अध्ययन करने से प्राचीन भारतीय समाज के घरेलू आचार-विचार का पूरा परिचय मिलता है। धर्मसूत्रों में चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के धर्मों का विस्तृत वर्णन है। स्मृतियों का उदय इन्हीं सूत्रों के आधार पर कालान्तर में हुआ।

तृतीय परिच्छेद

आदिम काव्य

(क) रामायण

संस्कृत साहित्य में महर्षि वाल्मीकि 'आदिकवि' माने जाते हैं और उनका रामायण 'आदिकाव्य'। कथा प्रसिद्ध है कि बाण से विधे हुए क्रौञ्च के लिये विलाप करने वाली क्रौञ्ची का करुण शब्द वाल्मीकि के कानों में ज्योंही पड़ा, त्योंही उनके हृदय का शोक श्लोक के रूप में परिणत होकर उनके मुख से निकल पड़ा। लौकिक संस्कृत में अनुष्टुप् का यह नया अवतार था—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

इस अनुष्टुप् को सुनकर ब्रह्माजी ने वाल्मीकि से इसी छन्द में रामचरित लिखने को कहा। इस आदिकाव्य को 'चतुर्विंशति साहस्री संहिता' कहने का कारण यह है कि इसमें पूरे चौबीस हजार श्लोक हैं—ठीक उतने ही हजार, जितने गायत्री के अक्षर हैं। विद्वानों का कहना है कि प्रत्येक हजार श्लोक का पहला अक्षर गायत्री मंत्र के ही अक्षर से क्रमशः आरम्भ होता है। रामायण में स्थान स्थान पर प्रक्षेप हैं। परन्तु फिर भी वह एक ही प्रतिभाशाली कवि की सर्वाङ्गसुन्दर रचना है। रामायण की रचना बुद्ध के जन्म के पहले की है क्योंकि न तो उसमें कहीं बुद्ध का निर्देश है और न बुद्धकालीन भौगोलिक स्थिति का कहीं उल्लेख है। महाभारत से इसकी तुलना करने पर स्पष्ट है कि रामायण महाभारत से प्राचीन है। रामायण महाभारत के पात्रों से परिचित नहीं है, परन्तु महाभारत के वनपर्व में रामायण के अनुरूप ही

राम का विस्तृत चरित (रामोपाख्यान) उपलब्ध होता है। सामाजिक तथा नैतिक दशा रामायण में जितनी उन्नत, आदर्शरूप तथा धर्मानुप्राणित है उतनी महाभारत में नहीं है।

रामायण का महत्त्व

वाल्मीकि का यह महाकाव्य पृथ्वीतल को विदीर्ण कर उगने वाले उस विराट् वटवृक्ष के समान है जो अपनी शीतल छाया से समग्र प्राणियों को सुख देता हुआ प्रकृति के विशिष्ट विभूति के समान अपना मस्तक ऊपर उठाये हुए खड़ा है। भारतीय गार्हस्थ्य जीवन का विस्तृत चित्रण ही रामायण का मुख्य उद्देश्य है। आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श भ्राता, आदर्श पति, आदर्श पत्नी—जितने आदर्शों को वाल्मीकि की शब्दतूलिका ने इस महाकाव्य में चित्रित किया है वे सब गृहधर्म के पट पर ही अंकित किये हैं। ऐसा होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि रामायण भारतीय सभ्यता का प्रतीक है और हमारी सभ्यता गृहस्थाश्रम की दृढ़ नींव पर प्रतिष्ठित है। रामचन्द्र मर्यादापुरुष हैं और जनक-नन्दिनी सीता भारतीय नारीत्व की साक्षात् प्रतिनिधि हैं। 'रामराज्य' की कल्पना हमें वाल्मीकि ने सिखलाया। भाषा और भाव, सरसता तथा मनोहरता की दृष्टि से रामायण भारतीय साहित्य मन्दिर का कलशस्थानीय है। रामायण में करुणरस की ही प्रधानता है। क्रौञ्च की करुण कथा से किया गया आरम्भ एवं सीता-वनवास की मर्मस्पर्शिनी घटना द्वारा की गई समाप्ति इस बात को स्पष्टतः अभिव्यक्त करती है। इस ग्रन्थरत्न के सरल परिचित शब्दों में इतना रस-परिपाक हुआ है कि पाठक का चित्त आनन्द से गद्गद् हो उठता है। रस की प्रधानता होने पर भी अनुरूप अलंकारों का सन्निवेश कम मनोरञ्जक नहीं है। उपमा,

रूपक, उपेक्षा, स्वभावोक्ति आदि कमनीय अलंकारों की छटा विदग्धहृदय को सदा मुग्ध बनाती रहती है। सुन्दरकाण्ड कविता की दृष्टि से पूरे रामायण में अत्यन्त मनोहर है। हनुमान् का पराक्रम, सीता का विशुद्ध चरित्र, रावण का अभिमान जिन शब्दों में अङ्कित किये गये हैं वे वस्तुतः हृदय में घर कर लेते हैं। मूर्त पदार्थों की अमूर्त पदार्थों से उपमा देना वाल्मीकि की महती विशेषता है। अशोकवाटिका में राक्षसियों से घिरी हुई सीता के लिये वाल्मीकि ने नवीन चमत्कारिणी उपमायें दी हैं। ऋतुवर्णन में भी रामायण हमारे कवियों का मार्गदर्शक है। अरण्यकाण्ड में हेमन्त का तथा किष्किन्धा में वर्षा और शरद् का वर्णन साहित्यजगत् में अपनी समता नहीं रखता। सच तो यह है कि रामायण की सरस कविता पढ़कर शताब्दियों से भारतीयों का हृदय स्पन्दित होता आया है और भविष्य में भी स्पन्दित होता रहेगा। आदिकवि हमारे कवियों के उपजीव्य हैं। जिस काव्य सें कालिदास और भवभूति ने स्फूर्ति तथा प्रेरणा ली, वह काव्य सर्वदा कवियों को काव्यकला के लिये स्फूर्ति देता रहेगा, यह कथन पुनरुक्तिमात्र है।

(ख) महाभारत

वाल्मीकि के अनन्तर व्यास हमारे दूसरे उपजीव्य कवि हैं जिनकी लेखनी का चमत्कार हमें महाभारत के पृष्ठों में उपलब्ध होता है। महाभारत काव्य न होकर इतिहास माना जाता है। कौरव और पाण्डवों के युद्ध का वर्णन करना इसका उद्देश्य है ही परन्तु साथ ही साथ वैदिक धर्म के आचार-विचार का, समाज तथा व्यक्ति के धर्म का, अभिराम चित्रण करना इसका प्रधान उद्देश्य प्रतीत होता है। शान्तिपर्व और अनुशासनपर्व में भारतीय

समाज तथा राजनीति के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन है। तथ्य बात यह है कि महाभारत भारतीय अध्यात्म तथा नीतिशास्त्र का विपुलकाय विश्वकोष है। भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता के लिये इसका अनुशीलन नितान्त उपादेय है। ग्रन्थ की महत्ता से प्रेरित होकर व्यासजी ने स्वयं इसके बारे में कहा है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष अर्थात् चारों पुरुषार्थों के विषय में जो कुछ यहाँ कहा गया है वही अन्यत्र प्रतिपादित किया गया है। और जो यहाँ नहीं है वह कहीं भी नहीं है:—

धर्मे ह्यर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥

आजकल महाभारत में एक लाख श्लोक मिलते हैं। इसीलिये यह 'शतसाहस्री' संहिता कहलाता है। परन्तु यह रूप उसे अनेक शताब्दियों के परिवर्तनों के अनन्तर प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के तीन रूपों का परिचय मिलता है। इसका मौलिक रूप 'जय' के नाम से विख्यात था। दूसरा रूप 'भारत' कहलाता था जिसमें युद्ध का ही विस्तृत वर्णन था। 'महाभारत' अन्तिम विकसित रूप है जिसमें हरिवंश को मिला देने से श्लोकों की संख्या एक लाख तक पहुँच जाती है। मूल महाभारत की रचना विक्रम पूर्व ४०० वर्ष से भी प्राचीन है। महाभारत में १८ पर्व हैं जिनके नाम क्रमशः ये हैं:—आदि, सभा, वन, विराट्, उद्योग, भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य, सौप्तिक, स्त्री, शान्ति, अनुशासन, अश्वमेध, आश्रमवासी, मौसल, महाप्रस्थानिक तथा स्वर्गारोहण। महाभारत का लक्ष्य संसार की अनित्यता दिखलाकर मोक्ष का प्रतिपादन करना है। सच्चे सुख के अभिलाषी पुरुष को धर्म का अनुष्ठान ही परम कर्तव्य है क्योंकि धर्म से ही अर्थ और काम दोनों की सिद्धि होती है। महाभारत का यही सन्देश है—

उर्ध्व-बाहुर्विरौम्येष, न च कश्चित् शृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

(ग) पुराण

संस्कृत साहित्य में पुराणों का विशेष महत्त्व है। भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति को साधारण जनता में प्रचारित करने का श्रेय इन्हीं पुराणों को है। आज भी हिन्दूधर्म का मूलाधार ये पुराण ही हैं। परन्तु बड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि आजकल पाश्चात्य शिक्षा में दीक्षित भारतीय विद्वानों की दृष्टि इन पुराणों के प्रति बड़ी उपेक्षापूर्ण है। वे ज्ञान के इन भंडार पुराणों को गप्प से अधिक महत्त्व नहीं देते। जब भारतीय विद्वानों की यह दशा है, तब पाश्चात्य विद्वानों का क्या पूछना ? वे तो पुराणों को नितान्त कपोल-कल्पित ही समझते हैं। पुराणों में जो इतिहास वर्णित हैं, उसे वे पुरातन कथा (माइथोलाजी) मानते हैं तथा उनपर तनिक भी विश्वास नहीं करते। इन्हीं पश्चिमी विद्वानों के द्वारा फैलायी गयी इस भ्रान्त धारणके अनुसार पुराणों के प्रति लोगों की उपेक्षा की प्रवृत्ति चली आ रही थी। परन्तु हर्ष का विषय है अब भारतीय विद्वान् ही नहीं, पाश्चात्य मनीषी भी इसकी महत्ता को समझने लगे हैं और भारतीय इतिहास के लिये इनको अमूल्य निधि मानने लगे हैं।

'पुराण शब्द' का अर्थ पुराना आख्यान है—'पुराणमाख्यानम्।' संस्कृत-साहित्य में 'पुराण' शब्द का अर्थ 'पुराना' है। सम्भवतः पुराणों को अत्यन्त प्राचीनता के कारण ही इनको यह नाम प्राप्त हुआ हो। पुराणों में प्राचीन आख्यानों की ही विशेषता रही है। भारतीय साहित्य में पुराणों के साथ इतिहास का भी नाम आता है। इतिहास उन्हीं घटनाओं का वर्णन करता है, जो भूतकाल में हो गयी हैं; परन्तु पुराण का

विषय इतिहास से अधिक व्यापक और विस्तृत है। इसी मौलिक पार्थक्य को लक्ष्य में रखकर इतिहास और पुराण का नामकरण अलग-अलग किया गया है।

पुराण का स्वरूप

पुराण की कल्पना—अब हमें इस बात पर विचार करना है कि हमारे शास्त्रों में पुराण की कैसी कल्पना की गयी है। मत्स्य, विष्णु तथा ब्रह्माण्ड आदि महापुराणों में पुराण का लक्षण बतलाते हुए लिखा है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

अर्थात् (१) सर्ग या सृष्टि, (२) प्रतिसर्ग अर्थात् सृष्टि का विस्तार, लय तथा पुनः सृष्टि, (३) सृष्टि के आदि की वंशावली, (४) मन्वन्तर अर्थात् किस किस मनु का समय कब कब रहा और उस काल में कौन सी महत्त्व की घटना हुई तथा (५) वंशानुचरित—सूर्य तथा चन्द्रवंशी राजाओं का वर्णन—यही पुराणों के पाँच विषय हैं। यही लक्षण साधारणतया पुराणों का है। परन्तु ध्यान से देखने पर पता चलता है कि पुराणों में इतनी ही बातों का वर्णन नहीं है, प्रत्युत इनसे भी बहुत अधिक बातें हैं। उदाहरण के लिये अग्निपुराण को ले लीजिये इसे यदि हम 'भारतीय ज्ञानकोष' कहें तो कुछ अत्युक्ति न होगी। कुछ ऐसे भी पुराण हैं, जिनमें इन पाँचों विषयों का यथावत् वर्णन नहीं मिलता। फिर भी पुराण की सामान्य कल्पना यही समझनी चाहिये। हम लोगों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि हमारे पुराण ही सच्चे तथा आदर्श इतिहास हैं। किसी मानव-

समाज का इतिहास तभी पूर्ण समझना चाहिये, जब उसकी कहानी सृष्टि के आरम्भ से लेकर वर्तमान कालतक क्रमबद्ध रूप से दी जाय। किसी देश की कथा जबतक सृष्टि के प्रारम्भ से न लिखी जाय, तबतक उसे अधूरा ही समझना चाहिये। इतिहास की इस वास्तविक कल्पना को पुराणों में हम पाते हैं। आधुनिक विद्वानों ने इतिहास-लेखन-शैली में इस प्रणाली की चिरकाल से उपेक्षा कर रखी थी; परन्तु हर्ष का विषय है कि इङ्गलैंड के सुप्रसिद्ध विचारशील विद्वान् एच्० जी० वेल्स ने अपने 'इतिहास की रूप-रेखा' (आउटलाइन आफ हिस्ट्री) में इसी पौराणिक प्रणाली का अनुकरण किया है। उन्होंने अपने इस प्रसिद्ध इतिहास में मानव-समाज का इतिहास लिखने के पूर्व सृष्टि के आरम्भ से मनुष्य के विकास का इतिहास लिखा है। मनुष्ययोनि को प्राप्त करने के पहले मानव को कौन-सा रूप धारण करना पड़ा था तथा उसका क्रमिक विकास कैसे हुआ, इसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन उन्होंने किया है। इस प्रकार यदि मनुष्य का इतिहास लिखना हो तो सृष्टि के आरम्भ से ही उसके विकास की कथा लिखना आदर्श तथा ठीक है। इतिहास लिखने का यही पौराणिक तथा आदर्श प्रकार है।

पुराणों की शैली

पुराणों की दूसरी विशेषता उनकी वर्णनशैली है। कुछ लोग पुराणों में लिखी हुई किसी बात को लेकर उसे असम्भव कहकर कपोल-कल्पित कहने का दुःसाहस कर बैठते हैं। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि हमारे शास्त्रों में वस्तुकथन के तीन प्रकार बतलाये गये हैं—जिन्हें आलङ्कारिक भाषा में तथ्य-कथन, रूपक-कथन तथा अतिशयोक्ति-कथन कह सकते हैं। जो वस्तु जैसी हो,

उसे ठीक वैसा ही कहना तथ्य-कथन है। यह कथन वैज्ञानिक लोगों के लिये उपयुक्त है। जहाँ रूपकालङ्कारका आश्रय लेकर कुछ कहा जाय, उसे रूपककथन कहते हैं। यह कथनप्रणाली वेदों में पायी जाती है, जहाँ सूर्य की किरणों में पाये जानेवाले सात रंगों को रंग न कहकर घोड़ों का रूपक दिया गया है। पुराणों में वस्तु-वर्णन के लिये अतिशयोक्ति अलङ्कार का आश्रय सदा लिया गया है तथा जो कुछ बात कही गयी है उसे वड़ा ही विस्तृत रूप दिया गया है; जैसे इन्द्र वृत्र के युद्ध में वृत्र की राजा के रूप में विस्तृत कल्पना। इस प्रकार पुराणों में जहाँ कहीं कोई बात कही गयी है, वहाँ वड़े विस्तार से कही गयी है। अतः पौराणिक कथाओं के सम्बन्ध में इस कथन-प्रणाली पर ध्यान रखकर ही विचार करना चाहिये। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो पुराण शुद्ध तथा आदर्श इतिहास के रूप में ही हम लोगों को दिखलायी पड़ेगा।

पुराणों की संख्या

संख्या में पुराण १८ हैं जिनका निर्देश इस प्रकार है। दो पुराण मकरादि हैं—(१) मत्स्य और (२) मार्कण्डेय; भकरादि दो— (३) भविष्य, (४) भागवत, ब्रयुक्त तीन—(५) ब्रह्माण्ड, (६) ब्रह्मवैवर्त, (७) ब्राह्म, वकरादि चार—(८) वामन, (९) वराह, (१०) विष्णु, (११) वायु। इसके अनन्तर हैं—(१२) अग्नि, (१३ नारद, (१४) पद्म, (१५) लिङ्ग, (१६) गरुड़, (१७) कूर्म तथा (१८) स्कन्द।

मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं व-चतुष्टतम्।
अनापलिंलकूस्कानि पुराणानि प्रचक्षते॥ १

उपपुराणों की भी संख्या १८ है। पुराणों में श्रीमद्भागवत सबसे अधिक मधुर तथा विद्वत्तापूर्ण है। 'विद्यावतां भागवते परीक्षा'। पद्मपुराण विष्णु की उपासना का वर्णन करने वाले बहुत बड़ा पुराण है। स्कन्द पुराण सबसे बड़ा पुराण है जिसके एक खण्ड—काशी खण्ड—में काशी के समस्त भौगोलिक विषयों का प्रामाणिक संकलन है।

चतुर्थ परिच्छेद

महाकाव्य

मनुष्य आनन्द का प्रेमी है। उसकी समस्त प्रवृत्तियाँ आनन्द-मूलक ही होती हैं। वह अपने प्रत्येक कार्य में इसी आनन्द को ढूँढ़ा करता है। काव्य की रचना में आनन्द की लिप्सा ही मुख्य हेतु है। पण्डितों ने काव्य के नाना प्रकार के लक्षण लिखे हैं। परन्तु इतना तो निर्विवाद है कि दोषरहित तथा गुणसम्पन्न चमत्कारी शब्द और अर्थ काव्य के वाच्य हैं जिसमें चमत्कार कभी रस के द्वारा उत्पन्न होता है और कभी अलंकार के द्वारा। काव्य के दो मुख्य भेद हैं—दृश्य और श्रव्य। दृश्यकाव्य वह है जिसका अभिनय किया जाय और जो नेत्रों का सहारा लेकर हृदय को आह्लादित करे। श्रव्यकाव्य कानों के सहारे रसिक के चित्त को आनन्दित करता है। दृश्यकाव्य का ही नाम है 'रूपक' अथवा 'नाटक'। श्रव्यकाव्य के तीन भेद हैं:—(१) महाकाव्य (२) खण्डकाव्य (३) मुक्तक।

महाकाव्य का विशिष्ट लक्षण है। किसी काव्य के 'महत्' होने में उसका आकार कारण नहीं है, बल्कि उसका गुण। महाकाव्यों की रचना सर्गों में की जाती है। एक ही नायक होता है जो देवता होता है अथवा धीर उदात्त गुणों से युक्त कोई कुलीन क्षत्रिय होता है। वीर, शृंगार अथवा शान्त—इनमें से कोई एक मुख्य (अंगी) होता है। मुख्यतया युद्ध का वर्णन रहता ही है पर प्रभात, सन्ध्या, सूर्यास्त, चन्द्रोदय आदि का वर्णन रहना भी आवश्यक है। न्याय का विजय और अन्याय का पराजय दिखलाना मान्य महाकाव्यों का प्रधान उद्देश्य रहता है।

संस्कृत में वाल्मीकि रामायण ही प्रथम महाकाव्य है। उसी को आदर्श मानकर पिछले महाकवियों ने महाकाव्य का प्रासाद खड़ा किया है। महाकाव्य की कल्पना ही हमें वाल्मीकि से प्राप्त हुई है। संस्कृत में महाकाव्यों का उदय और अभ्युदय का इतिहास बड़ा ही मनोरञ्जक है। लौकिक संस्कृत के आदिम महाकाव्य आजकल तो उपलब्ध नहीं हैं। वैयाकरण पाणिनि (७म शतक ई० पू०) महाकाव्य के प्रथम कवि स्वीकृत किए गए हैं। परन्तु उनके 'जाम्बवतीविजय' महाकाव्य के कतिपय श्लोक ही सूक्ति संग्रहकारों की कृपा से बचे हुए हैं। वररुचि (४र्थ शतक ई० पू०) के काव्य (वाररुचं काव्यं) का उल्लेख पतञ्जलि ने महाभाष्य में अवश्य किया है, परन्तु उनके कतिपय सूक्तियों के अतिरिक्त हमें इस काव्य का पता नहीं चलता। हमारे प्राचीनतम तथा सर्वश्रेष्ठ कवि महाकवि *कालिदास* ही हैं। इस महाकवि की कीर्ति-कौमुदी भारतीयों के मानस में ही आनन्द की लहरी नहीं उठाती, बल्कि पश्चिमी जगत् के तप्त हृदयों को भी अपनी सरसता तथा आध्यात्मिकता से तृप्त करती है। कालिदास सरस्वती की उज्ज्वल मणि-

माला के मध्यमणि (सुमेरु) हैं। उनकी कविता में स्वाभाविकता, सरसता तथा आध्यात्मिकता का अपूर्व सम्मिलन है। सच तो यह है कि कालिदास भारत के कवि न होकर विश्व के इने-गिने कवियों में अन्यतम हैं।

कालिदास

कालिदास सम्राट् विक्रमादित्य के सभापण्डित थे—उस विक्रमादित्य के, जिसने आज से दो हजार वर्ष पूर्व पश्चिमी भारत में शकों को परास्त कर अपने मालव गणों को प्रतिष्ठा तथा सुव्यवस्था दी थी और जिसने इसीके उपलक्ष्य में वह संवत् चलाया था जो पहले 'मालव संवत्' और पीछे 'विक्रम संवत्' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस महाकवि के चार काव्य-ग्रन्थ हैं—(१) *ऋतुसंहार*—इस काव्य में ६ हों ऋतुओं का वर्णन किया गया है। (२) *कुमारसंभव*—इसमें आजकल १८ सर्ग उपलब्ध होते हैं। परन्तु आदि के आठ सर्ग ही कालिदास की वास्तव रचना है। इसमें पार्वती का जन्म, मदन-दाह, रति-विलाप, पार्वती-तपश्चर्या, शिव-पार्वती का विवाह तथा सुरत का वर्णन क्रमशः किया गया है। कार्त्तिकेय (कुमार) के जन्म का वर्णन करने से इसका नाम कुमारसंभव पड़ा है। (३) *मेघदूत*—यह एक विख्यात खण्ड-काव्य है जिसमें धनपति कुबेर के कोप से निर्वासित किसी अलकावासी यक्ष ने अपनी प्राणवल्लभा के पास मेघ को दूत बनाकर भेजा है। इसके दो खण्ड हैं—पूर्वमेघ और उत्तरमेघ। पूर्वमेघ में भारतवर्ष की चमत्कारपूर्ण भव्य कल्पना है। उत्तरमेघ में अलका के वर्णन के अनन्तर मेघ का प्रेम-संदेश है। (४) *रघुवंश*—कालिदास का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। इसमें १९ सर्ग हैं। दिलीप से आरम्भ कर अग्निवर्ण तक अनेक इक्ष्वाकुवंशी राजाओं

के चरित्रवर्णन हैं, परन्तु रघु और राम का उदात्त चरित्र प्रधानतया कई सर्गों में अंकित है।

कालिदास की कविता

महाकवि कालिदास की कविता देव-वाणी का श्रृंगार है। वह दो हजार वर्षों से सहृदयों को लुभाती आती है। माधुर्य का मधुर निवेश, प्रसाद की स्निग्धता, पदों की सरस-शैय्या, अर्थ का सौष्ठव, अलंकार का मञ्जुल रसमय प्रयोग—सच्चे काव्य में जो कुछ अपेक्षित है, वह सब कालिदास के काव्यों में विद्यमान है। ये भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं जिनके पात्र भारतीयता की भव्य मूर्ति हैं और जिनके काव्य भारतीय भावों के मनोरम भाण्डागार हैं। संसार का इन्हें गहरा अनुभव था। इनमें ऐसे अनुभवों के मार्मिक पक्ष के ग्रहण करने की भावुकता अपूर्व थी। अपने उदार और ऊँचे हृदय को संसार के वास्तविक व्यवहारों के बीच में रखकर जो समवेदना इन्होंने प्राप्त की है उसी की व्यञ्जना इनकी कविता में है। इनके विषय में कहना पुनरुक्ति-मात्र है कि ये मानव भावों के विशेष पारखी थे तथा प्रकृति देवी के प्रवीण पुरोहित थे। इनके काव्यों में श्रृंगार के साथ करुण रस की मधुर व्यञ्जना है। अलंकारों में उपमा का पूर्ण सौन्दर्य इनके काव्यों में प्रस्फुटित हो रहा है। 'उपमा कालिदासस्य'—की लोकोक्ति किस सहृदय की जिह्वा पर नहीं नाचती ? महाकवि कालिदास के पात्रों का चरित्र भारतीयों के लिये आदर्श है। देवता और ब्राह्मण में भक्ति, गुरुवाक्य में अटल विश्वास, मातृ-रूपिणी धेनु की परिचर्या, अतिथि की इष्टपूर्ति के लिए राजा का सर्वस्व-दान, लोकानुरञ्जन के लिए अपनी प्रियतमा धर्मपत्नी का त्याग—कालिदास के पात्रों में सर्वत्र देदीप्यमान है। कालिदास का महान् सन्देश

तीन शब्दों में अभिव्यक्त किया जा सकता है—त्याग, तपोवन और तपस्या। भारतीय सभ्यता की जन्मभूमि तपोवन है जहाँ तपस्या के द्वारा मानवों का सच्चा मंगल सम्पन्न हो सकता है। त्याग तो भारतीय संस्कृति का मूलमंत्र ही है। इस प्रकार कालिदास भारतीय कला के ही सर्वश्रेष्ठ कलाकार नहीं हैं, अपितु भारतीय संस्कृति के प्रतीक तथा आध्यात्मिकता के पोषक हैं। कालिदास के सर्वप्रिय होने का यही रहस्य है।

अश्वघोष (प्रथम शतक)—महाकाव्य में कालिदास ने जिस शैली का प्रचलन किया उसे पिछले कवियों ने बड़े प्रेम से अपनाया। गुप्तकालीन कवियों में हरिषेण और वत्सभट्टि कालिदास की शैली से प्रभावित हुए हैं। परन्तु उनसे भी पहले बौद्ध कवि अश्वघोष ने कालिदास के शैली का अनुकरण अपने काव्यों में किया है। ये साकेत (अयोध्या) के रहनेवाले ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी था। बचपन में इन्हें वैदिक धर्म की शिक्षा दी गई थी। परन्तु पीछे आचार्य पूर्णयश ने इन्हें बौद्धधर्म में दीक्षित किया। महाराज कनिष्क के समय में जो बौद्ध संगीति (सभा) संगठित की गई थी उसका संचालन अश्वघोष की अध्यक्षता में हुआ था। ये दार्शनिक होते हुए भी उच्चकोटि के कवि थे। इनके दो महाकाव्य उपलब्ध होते हैं—बुद्धचरित और सौन्दरनन्द। बुद्धचरित में गौतम बुद्ध का जीवनचरित्र बड़े विस्तार के साथ किया गया है। सौन्दरनन्द में गौतम के अनुज सुन्दरनन्द के बौद्धधर्म में दीक्षित होने का रोचक वर्णन है। इनकी कविता शैली सरस वैदर्भी है। इन्होंने पहले पहल काव्यकला को धर्म के बहुल प्रचार में लगाया। कालिदास के अनुकरण करनेवालों में कवि कुमारदास तथा पद्मगुप्त का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

कुमारदास (सप्तम शतक)—सिंहलद्वीप (लंका) के राजा

थे। इनका '*जानकीहरण*' महाकाव्य कालिदास की शैली पर लिखा गया अतीव उत्कृष्ट महाकाव्य है जिसमें मञ्जुल शब्द-विन्यास के साथ उदार अर्थ का पूर्ण सामञ्जस्य है।

पद्मगुप्त परिमल-(१०श०) ने 'नवसाहसांकचरित' में राजा भोज के पिता सिन्धुराज का नागवंशी कुमारी शशिप्रभा के साथ विवाह का वर्णन विस्तार के साथ किया है। परमारों के इतिहास के लिये भी यह काव्य नितान्त उपादेय है। शैली विशुद्ध वैदर्भी है। कालिदास का यह सफल तथा सरस अनुकरण है।

अलंकृत काव्य

भारवि—(६०० ई०) भारवि ने महाकाव्य को एक नई दिशा प्रदान की जिसमें कथावस्तु तो बहुत ही अल्प है, परन्तु प्राकृतिक वर्णनों की बड़ी प्रचुरता है। इन्होंने लघु कथानक को पुष्ट करने के लिये प्रभात, सायंकाल, सूर्योदय, चन्द्रोदय, गिरि आदि के वर्णनों को अपने महाकाव्य में खूब ही स्थान दिया है। इसको हम लोग 'अलंकृत शैली' कहते हैं। जिसे भारवि ने जन्म दिया और माघ ने अपने काव्य में पूर्णता को प्राप्त कराया। ये दक्षिण के चालुक्यवंशी नरेश विष्णुवर्धन के सभापण्डित थे। चालुक्यवंशी नरेश पुलकेशी द्वितीय के समय का (६३४ ई०) एक शिलालेख 'अइहोड़' नामक ग्राम के एक जैनमन्दिर में मिला है जिसमें कालिदास के साथ भारवि का नाम निर्दिष्ट है। इनके महाकाव्य का नाम *किरातार्जुनीय* है जिसमें १८ सर्ग हैं। अर्जुन तथा किरातवेषधारी शिव का युद्ध वर्णन है। ये अर्थगौरव के लिए संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध हैं—भारवेरर्थगौरवम्। अल्प शब्दों में विपुल अर्थ का सन्निवेश कर देना अर्थगौरव की पहचान है। प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन भी मनोहारी है। ये चित्रकाव्य लिखने में भी बेजोड़ हैं।

भट्टि—(६०० ई०) भट्टि ने 'शास्त्रकाव्य' लिखने की परिपाटी चलाई। शास्त्रकाव्य में काव्य के साथ साथ व्याकरणों के प्रयोगों का पूरा परिचय पाठकों को मिल जाता है। इनके 'भट्टि-महाकाव्य' में रामचरित का वर्णन है जिसमें व्याकरण और काव्य के सिद्धान्त सिखलाने का उद्देश्य मुख्य है। हृदय को आकृष्ट करनेवाली कविता का यहाँ नितान्त अभाव है। परन्तु भट्टि के सौ वर्ष के भीतर ही लिखे गये शिशुपालवध महाकाव्य में यह दोष नहीं है। यह महाकवि *माघ* (६७५ ई०) की रचना है—इनका जन्म श्रीमाल (गुजरात) के एक प्रतिष्ठित तथा धनाढ्य ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पितामह सुप्रभदेव गुजरात के शासक महाराज वर्मलात के प्रधान मन्त्री थे। इनके पिता 'दत्तक' वड़े दानी थे। शिशुपालवध में भगवान् कृष्णचन्द्र का चरित वर्णन है। माघ पण्डित-कवि हैं। कवित्व के साथ पाण्डित्य का प्रदर्शन इनके काव्य में खूब है। संस्कृत शब्दों पर इनका प्रभुत्व अतुलनीय है—'नव-सर्गं गते माघे नवशब्दो न विद्यते'। श्लेष और चित्र-काव्य लिखने में ये सिद्धहस्त हैं। एकादश सर्ग में मालिनी छन्द में लिखा गया प्रभातवर्णन संस्कृत साहित्य में एक अनूठी चीज है। ये भारवि की कविता से प्रभावित होने पर भी मौलिक, प्रतिभाशाली तथा वैदुषीमण्डित कवि हैं।

काश्मीरी कविगण

काश्मीर सर्वदा से कविता का मनोरम निकेतन रहा है। बिह्लण कवि का कहना है कि केसर के अंकुर और काव्य के अंकुर में इतना मैत्रीभाव है कि काश्मीर को छोड़कर कविता के अंकुर अन्यत्र नहीं उगते। यह कथन यथार्थ में सत्य है। काश्मीर के कवियों का राग ही निराला है। उनकी काव्यवीणा बजी नहीं,

कि पारखी सहृदयों के कानों ने झट उन्हें पहचान लिया। काश्मीरी कविता में उदात्त भाव, भक्ति की प्रचुरता, विशुद्ध पदों का विन्यास अपनी विशेषता बनाये हुए है। *भर्तृमेण्ठ* ने पञ्चम शतक में 'हयग्रीववध' में महाकाव्य लिखने की प्रथा शारदा देश में चलाई। परन्तु काश्मीरी महाकाव्य का विस्तार नवम शतक में महाकवि *रत्नाकर* के 'हरविजय' से होता है। इन्होंने काश्मीर-नरेश जयापीड और अवन्तिवर्मा (८५० ई०) के राज्यकाल में प्रचुर प्रसिद्धि प्राप्त की। उनका 'हर-विजय' महाकाव्य भगवान् शंकर के चरित से सम्बन्ध रखता है। संस्कृत साहित्य में यह सबसे बड़ा महाकाव्य है। इसमें लम्बे लम्बे पचास सर्ग हैं। प्रकृतिवर्णन का प्रचुर विस्तार है। रत्नाकर की कविता का प्रभाव *शिवस्वामी* (९०० शतक) पर पड़ा जिन्होंने अपने 'कप्फिणाभ्युदय' महाकाव्य में एक सामान्य बौद्ध-आख्यान को अपनी उत्कृष्ट प्रतिभा के बल पर कमनीय काव्य के रूप में चित्रित किया है। *क्षेमेन्द्र* (११ शतक) अभिनवगुप्ताचार्य के शिष्य थे। व्यासजी की कविता के विशेष परिशीलन के कारण इन्होंने अपना नाम ही 'व्यासदास' रख दिया था। व्यास के अनन्तर शायद ही किसी कवि ने इतनी अधिक कविता लिखी होगी। इनका रामायण-मंजरी, भारतमंजरी, बृहत्कथामंजरी, दशावतारचरित, संस्कृत महाकाव्य में विशेष माननीय हैं। *मंखक* (११२९-५० ई०)—का 'श्रीकण्ठचरित' में भगवान् शंकर के त्रिपुरविजय की कथा के सुन्दर रूप में वर्णन है। *विल्हण* (१२ शतक)—इन्होंने 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में चालुक्यवंशी नरेश विक्रमादित्य षष्ठ के जीवन-चरित का बड़े बिस्तार के साथ वर्णन किया है। यह विशुद्ध वैदर्भी शैली में लिखा गया है। साहित्यिक सौन्दर्य के अतिरिक्त

इसका ऐतिहासिक महत्त्व बहुत अधिक है। कल्हण (१२ शतक) पण्डित की 'राजतरंगिणी' काश्मीर देश का काव्य-बद्ध इतिहास है जिसमें सरस काव्यकला के साथ विशुद्ध ऐतिहासिक कल्पना का मनोरम संमिलन है।

श्रीहर्ष

श्रीहर्ष (१२ श०) संस्कृत महाकवियों में नितान्त प्रसिद्ध हैं। ये कन्नौज के नरेश विजयचन्द्र और जयचन्द्र के सभापंडित थे। इनका 'नैषधचरित' काव्यकला की दृष्टि से संस्कृत भारती का मनोरम शृङ्गार समझा जाता है। कल्पना की ऊँची उडान, उत्प्रेक्षा की मनोरम कल्पना, विद्वत्ता का मञ्जुल सन्निवेश आदि अनेक गुणों में यह संस्कृत साहित्य में अद्वितीय है। जैन महाकवियों में हेमचन्द्र (१२ श०) का स्थान बहुत ऊँचा है। इन्होंने 'द्व्याश्रय' महाकाव्य में अपने आश्रयदाता कुमारपाल के जीवनचरित्र के साथ अपने हैमव्याकरण के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

संस्कृत महाकाव्य का बहुत ही अधिक विस्तार है। ऊपर विख्यात महाकवियों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। संस्कृत कवियों ने बाह्य प्रकृति का जितना सूक्ष्म निरीक्षण किया है उतना ही उन्होंने मानव हृदय के भावों की परीक्षा भी की है। इसी कारण संस्कृत महाकाव्य किसी भी देश के महाकाव्य से काव्यगुणों में न्यून नहीं है। जिसने इसका रस भलीभाँति लिया है उसे अन्य काव्य 'सदा फीके लगते हैं। ठीक है—जीभ निबौरी क्यों लगे बौरी चाखि अँगूर।

——

पञ्चम परिच्छेद

गीतिकाव्य

श्रव्य काव्य के भेदों में महाकाव्य के अनन्तर खण्डकाव्य और मुक्तक काव्य का नम्बर आता है। खण्डकाव्य वह काव्य है जो महाकाव्य के लक्षणों से विरहित होते हुए भी काव्य सम्पत्ति से युक्त है। मुक्तककाव्य को स्फुट काव्य कह सकते हैं जिसके समझने के लिए न तो सन्दर्भ की आवश्यकता होती है और न किसी वाह्य उपकरण की। वह स्वयं रसपेशल कलश के समान होता है। इन दोनों विभागों को हम 'गीतिकाव्य' के अन्तर्गत रखते हैं। गीतिकाव्य से तात्पर्य उन काव्यों से है जिसका विषय बाह्य घटना न होकर कोई आन्तरिक घटना होती है। इसमें कवि अपने ही भावों का, अपनी निजी अनुभूति के ऊपर, सुचारु वर्णन करता है। इसे प्रसाद तथा माधुर्य गुण से सम्पन्न होना आवश्यक होता है।

गीतियों की विशिष्टता

संस्कृत में गीतिकाव्य का वहुत ही अधिक विस्तार है। छोटे-छोटे सरस शब्दों के द्वारा हृदय के गूढ़ भावों की व्यञ्जना संस्कृत गीति काव्यों की महती विशिष्टता है। इस काव्य का कवि अपने को शृंगार रस में सिक्त करता है, तो कभी वह शान्तरस के आस्वादन से आत्मविभोर हो उठता है। आनन्दातिरेक के लिए उसे प्रयास करने की आवश्यकता नहीं होती। कभी वह षोडशी के काले घुँघराले बालों के सौन्दर्य के वर्णन में चित्त लगाता है, तो कभी वह जगत् की विरसता का साक्षात् अनुभव कर एकान्तवास का आश्रय लेने के लिए उद्यत होता है। तथ्य की बात तो यह है कि

संस्कृत के गीतिकाव्यों की मञ्जुलता तथा मनोहरता अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। एक तो संस्कृतभाषा का स्वाभाविक माधुर्य दूसरे गीति काव्यों का अभिराम कमनीय कलेवर, दोनों मिलकर सहृदयसंवेद्य चमत्कार उत्पन्न करते हैं। पश्चिमी आलोचकों को बाध्य होकर पाश्चात्य गीतिकाव्यों से संस्कृत गीतिकाव्यों के सौन्दर्य को बढ़कर ही बतलाना पड़ा है।

गीतिकाव्य दो प्रकार के हैं—(१) लौकिक विषयों से सम्बद्ध और (२) धार्मिक विषयों से सम्बद्ध (जिन्हें हम साधारणतया स्तोत्र के नाम से पुकारते हैं)। पहली श्रेणी के कवियों में हम भर्तृहरि, अमरुक, गोवर्धनाचार्य का नाम उल्लेख योग्य है।

भर्तृहरि

भर्तृहरि—(षष्ठ शतक) के शतकों से साधारण संस्कृतज्ञाता भी परिचित होगा। उन्होंने शतकों की रचना की—(१) नीतिशतक (२) शृङ्गारशतक (३) वैराग्यशतक। नीतिशतक में नीति से सम्बद्ध नाना छन्दों में रचित एक शत पद्य हैं। शृंगारशतक में शृङ्गार से भरे पद्यों का संकलन है। भर्तृहरि के व्यक्तित्व का पता नहीं चलता। कोई उन्हें राजा विक्रमादित्य का भ्राता मानता है तो कोई उन्हें वाक्यपदीय के रचयिता महावैयाकरण ब्राह्मण भर्तृहरि से अभिन्न बतलाता है। परन्तु इतना तो निश्चित है कि भर्तृहरि को संसार का बहुत ही बड़ा अनुभव था। और इस अनुभव के मार्मिक पक्ष को ग्रहण कर उन्होंने अपनी भावुकता का परिचय दिया है। भर्तृहरि ने मनुष्य के लिए वैराग्य को ही महान् व्रत बतलाया है। उनका आदर्श वह यति है जिसके लिए आकाश चँदवे का काम करता है। हवा पंखा झलता है। चन्द्रमा दीपक का काम करता है। और जो स्वयं विरति-वनिता से

आलिंगित होकर समृद्धशाली सम्राट् के समान भूतल की शैया पर चैन की नींद सोता है।

अमरुक

भर्तृहरि के दो सौ वर्ष के भीतर ही एक बड़े सहृदय कवि ने जन्म लिया जिनका नाम *अमरुक* है। न तो इनके देश का पता चलता है और न इनके व्यक्तित्व का। आनन्दवर्धन ने इनके एक एक मुक्तक को पूरे प्रबन्ध के समान गम्भीर सरस तथा भावपूर्ण बतलाया है। इससे पता चलता है कि नवम शताब्दी के मध्यकाल तक इनकी कविता की धूम मच गई थी। इन्होंने केवल एक ही शतक लिखा है जो उनके नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु यह रचना इतनी सरस, भावपूर्ण तथा हृदयानुरंजक है कि केवल इसी के कारण ये महाकवियों के पंक्ति में उन्नत स्थान पाने के अधिकारी हैं। इनके समग्र पद्य श्रृंगाररस के विविध भावों की तथा घटनाओं की मधुर अभिव्यंजना करने में समर्थ हैं। अमरुक किसी मुग्धा नायिका को दूती के मुँह से यह सिखला रहे हैं कि हे मुग्धे ! क्या तुम इसी तरह से लड़कपन में दिन बिताओगी। ज़रा नखड़ा करना तो सीखो। अपने प्यारे के विषय में यह निजी सरलता दूर करो। इस प्रकार सखी से समझाई गई सुन्दरी उठकर उससे कहने लगी कि ज़रा धीरे से बोलो। कहीं ऐसा न हो कि हृदय में रहनेवाला मेरा प्राणेश्वर कहीं इन बातों को सुन ले। पतिपरायणा मुग्धा का कोमल अनुराग का कितना मार्मिक चित्रण है।

गोवर्धनाचार्य

इनके लगभग तीन सौ वर्ष के बाद बंगाल में राजा लक्ष्मण-सेन के दरबार में *गोवर्धनाचार्य* 'नामक गीतिकाव्य के रचयिता

हुए। उनकी प्रशंसा में जयदेव ने स्वयं लिखा है कि शृङ्गाररस से चुभचुभाती कविता के लिखने में गोवर्धन का स्पर्धी कोई नहीं दिखाई पड़ा। इन्होंने 'आर्यासप्तशती' नामक ग्रन्थ में ७०० आर्याओं की रचना की है। यह जिस ग्रन्थ के आदर्श पर लिखा गया है उसका नाम गाथासप्तशती है। ईस्वी द्वितीय शतक के आस-पास दक्षिण के राजा हाल (शालिवाहन) ने एक लाख सुन्दर प्राकृत गाथाओं में से चुनकर इस सात सौ गाथाओं का संग्रह किया। साहित्यजगत् में गाथाएँ ध्वनिकाव्य के उत्कृष्ट निदर्शन मानी जाती हैं। गोवर्धन कवि आर्या छन्द के कवि हैं। इस छन्द में सुन्दर रीति से कविता लिखने का प्रथम तथा सफल प्रयास इसी महाकवि ने किया। इसमें शृंगार और नीति के पद्यों की कमी नहीं है। हिन्दी के महाकवि बिहारी ने इन दोनों काव्यों के आदर्श पर अपनी सुप्रसिद्ध सतसई लिखी है।

जयदेव

महाकवि जयदेव गोवर्धनाचार्य के समकालीन ही न थे। प्रत्युत उसी दरबार के रहनेवाले थे। वे बंगाल के 'केन्दुबिल्व' नामक गांव के निवासी थे, जहाँ आज भी उनकी पुण्यस्मृति में गौड़ीय वैष्णव साधुओं का बड़ा भारी मेला लगता है। इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है 'गीत गोविन्द'। यह काव्य क्या है? भगवती संस्कृत भारती के सौन्दर्य तथा माधुर्य की पराकाष्ठा है। संस्कृत भाषा कितनी मधुर हो सकती है इसका यदि एक ही स्थान पर उदाहरण देखने की आवश्यकता हो तो वह सरस काव्य गीत-गोविन्द ही है। कालिदास की कविता में भी इस रसपेशल मधुर भाव का दर्शन हमें नहीं मिलता। इस काव्य में कोमल-कान्त पदावली का सरस प्रवाह है, मधुर भावों का मधुमय सन्नि-

वेश है। एक शब्द में इसे हम 'संगीत और साहित्य का सामरस्य' कह सकते हैं। आनन्दकन्द भगवान् कृष्णचन्द्र तथा भगवती राधिका की ललित लीलाओं का ललाम वर्णन जितना यहाँ है वह अन्यत्र कहाँ देखने को मिलता है ? 'ललित-लवंग-लता-परिशीलन-कोमल मलय समीरे' के समान कोमल पदावली की ध्वनि सुनकर कौन ऐसा सहृदय होगा जिसका मनोमयूर नाच न उठे। इस आध्यात्मिकता से भरे काव्य की परख के लिये सहृदयता के अतिरिक्त भक्ति-पूरित-हृदय की विशेष आवश्यकता है।

स्तोत्र साहित्य

संस्कृत में स्तोत्र साहित्य की बड़ी प्रचुरता है। भगवद्-भक्त कवियों ने इन स्तोत्रों में अपने हृदय को बड़े प्रेम से खोलकर दिखला दिया है। कवि भगवान् के सामने कभी अपनी दीनता की करुण कथा सुनाकर उनके हृदय को द्रवीभूत करता है, तो कभी उनके पतितपावन के विरुद की स्मृति दिलाकर उनके चित्त में दया की सरिता बहाता है। भक्त भगवान् की स्मृति में अपने आप को भूल जाता है और वह भक्ति के आवेश में ऐसे सुन्दर भावों की अभिव्यक्ति करता है जिसे पढ़ते ही पाठकों का हृदय इस दुःखबहुल भौतिक जगत् से ऊपर उठकर आनन्दमय लोक में विराजने लगता है। ऐसे श्लाघनीय स्तोत्रों का अस्तित्व संस्कृत साहित्य को छोड़कर जगत् के किसी अन्य साहित्य में विद्यमान है, इसे हम संशयरहित होकर नहीं कह सकते।

शंकराचार्य

स्तोत्र-कवियों में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है आचार्य शंकर का। साधारणतया पण्डितजन शंकर को उच्चकोटि का दार्शनिक ही

समझते हैं। परन्तु सच्ची बात तो यह है कि भगवान् के इस दिव्य विभूति ने उन्नत मस्तिष्क के साथ सरस कोमल हृदय का अपूर्व सम्मिलन पाया था। शंकर उच्चकोटि के दार्शनिक ही न थे, प्रत्युत अलौकिक प्रतिभा से सम्पन्न महान् कवि थे। गद्य और पद्य दोनों के लिखने में उनकी लेखनी सहज रीति से चलती थी। दार्शनिक जगत् में निर्गुण ब्रह्म के उपासक होने पर भी आचार्य शंकर व्यवहार दशा में नाना देवताओं की उपासना को उपादेय तथा आवश्यक मानते हैं। हमारे समग्र माननीय देवताओं के विषय में उन्होंने सुन्दर स्तोत्रों की रचना की है। उनकी 'सौन्दर्य-लहरी' तो तान्त्रिकता, आध्यात्मिकता तथा साहित्यिक-सौन्दर्य की पराकाष्ठा है। 'भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढ़मते' की स्वरलहरी जब हमारे कानों में अमृत उड़ेलने लगती है तब हमारा चित्त इस भौतिक जगत् से बहुत ऊँचे उठकर अलोक-सामान्य आनन्द का अनुभव करने लगता है।

पुष्पदन्त विरचित 'शिवमहिम्न स्तोत्र' शंकर के समय की ही रचना प्रतीत होती है। इसमें भगवान् शंकर की बड़ी ही मनोरम स्तुति प्रस्तुत की गई है। मूक कवि की 'पञ्चशती' भगवती कामाक्षी की स्तुति में लिखी गई हैं। सुनते है कि ये कवि दक्षिण भारत के निवासी थे और जन्म से ही गूंगे थे। काञ्ची में भगवती कामाक्षी के सामने आते ही उनका कण्ठ खुल गया और उन्होंने इन कमनीय पद्यों को धारावाहिक रूप में कह सुनाया। काश्मीरी कवियों में *उत्पलदेव* (नवम शतक) की 'शिवःस्तोत्रावली' तथा *जगद्धर भट्ट* (चौदह शतक) की 'स्तुतिकुसुमाञ्जलि' स्तोत्रसाहित्य के रत्न हैं। दक्षिण भारत के कवियों में *बिल्वमंगल* का 'कृष्णकर्णामृत' ने चैतन्यदेव के हृदय को अपनी सरसता से इतना आकृष्ट कर लिया कि उन्होंने बंगाल में इसका प्रचुर प्रचार

किया। कुलशेखर (बारह शतक) का 'मुकुन्दमाला स्तोत्र' तथा *यमुनाचार्य* का 'आलवन्दार स्तोत्र' श्री वैष्णवों में बड़े आदर तथा सम्मान का भाजन हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ (१७ शतक) की अनेक रचनायें इसी कोटि में आती हैं। ये दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ के दरबार में विशेष सम्मान के पात्र थे। ये दाराशिकोह के संस्कृत विद्या के अध्यापक थे। ये परम वैष्णव थे। काशी तथा मथुरा दोनों जगह समय समय पर रहा करते थे। इनकी प्रतिभा बड़ी ओजस्विनी थी। अपने पाण्डित्य के सामने ये किसी भी विद्वान के उत्कर्ष को मानने के लिये उद्यत न थे। इनकी रसिकता तथा उद्दण्डता का परिचय उनके रचनाओं में भलीभांति मिलता है। 'रसगंगाधर' तो इनके साहित्य-पाण्डित्य का पूर्ण परिचायक ग्रन्थ-रत्न है। इन्होंने पाँच लहरियों की रचना की (१) गंगालहरी (या पियूषलहरी) (२) करुणालहरी (३) लक्ष्मी-लहरी (४) अमृतलहरी (५) सुधालहरी। इनमें गंगालहरी बड़ी ही प्रसिद्ध है। रसपेशल माधुर्यसम्पन्न कविता के लिखने में पण्डितराज जगन्नाथ का इधर तो कोई प्रतिस्पर्धी नहीं दीख पड़ता :—

नितरां परुषा सरोजमाला न मृणालानि विचारपेशलानि।
यदि कोमलता तवाङ्गकानां बत का नाम कथापि पल्लवानाम्॥

गीतिकाव्य का यही संक्षिप्त परिचय है। भारतीय आलोचक इसकी मधुरता पर मुग्ध हैं ही, पाश्चात्य आलोचकों ने भी इसकी श्रेष्ठता स्वीकार कर अपनी गुणग्राहिता अभिव्यक्त की है।

षष्ठ परिच्छेद

गद्य काव्य

संसार के साहित्य के इतिहास में गद्य की उत्पत्ति सबसे पहले संस्कृत साहित्य में हुई। संस्कृत गद्य सब गद्यों से प्राचीनतम है। गद्य का आरम्भिक रूप हमें तैत्तिरीय संहिता तथा अथर्वसंहिता में उपलब्ध होता है। तैत्तिरीय संहिता में मंत्रों के साथ विनियोग-प्रदर्शक गद्य का प्रथम अवतार हुआ। अथर्ववेद की संहिता में भी समग्रग्रन्थ का छठा भाग गद्य में निबद्ध है। ब्राह्मण साहित्य में तो गद्य का ही साम्राज्य है। प्राचीनतम उपनिषद् गद्य में ही निबद्ध किये गये हैं। इस वैदिक ग्रन्थ में निराली मनोहरता है, छोटे-छोटे वाक्यों में भावपूर्ण अर्थ का सन्निवेश विदग्धों के हृदय को मुग्ध करता है। प्रसाद गुण यहाँ पद पद पर है। प्राचीन-गद्य की यह विशेषता है। अनेक वाक्य अवसर आने पर बारम्बार उसी रूप में उद्धृत किये गये हैं। वैदिक काल के अनन्तर गद्य के प्रति विद्वानों का आदर कुछ कम हो चला। लौकिक संस्कृत में तो पद्य की अपेक्षा गद्य का विस्तार बहुत ही कम है। किसी विषय के अनुशीलन करने के लिये तथा उसे कण्ठस्थ करने के लिये गद्य की अपेक्षा पद्य अधिक सहायक होता है। इसीलिये आयुर्वेद, ज्यौतिष आदि वैज्ञानिक शास्त्रों के लिये भी पद्य का ही ग्रहण किया गया। पाली भाषा में भी गद्य का खूब प्रसार है। बुद्ध के उपदेश गद्यरूप में ही दिये गए हैं। जातकों की कहानियाँ गद्य-रूप में ही कही गई हैं। पाली-गद्य में वैदिक गद्य की अनेक बातें समान रूप से उपलब्ध होती हैं।

गद्य का विकास

लौकिक संस्कृत का गद्य, मात्रा में कम होने पर भी गुणों की दृष्टि से नितान्त रोचक तथा समधिक ग्राह्य है। गद्य का प्राण है ओजगुण। समास की बहुलता होना जिससे वाक्यों में प्रौढ़ता तथा गाढ़बन्धता आ जाय—ओजगुण का सामान्य परिचायक है—ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्—साधारण जनों की यह भ्रान्त धारणा है कि गद्य लिखना बहुत ही सरल है। परन्तु सच्ची बात ठीक इसके विपरीत है। गद्य की अपेक्षा पद्य का लिखना कुछ सरल है। पद्य के लिये छन्द की नितान्त आवश्यकता है। पद्य लिखने में यदि कहीं दोष हो जाय तो कवि अपनी असमर्थता को छन्द की परतंत्रता के भीतर छिपा सकता है। परन्तु गद्य का रूप स्वच्छन्द बहनेवाली वायु के समान स्वतन्त्र है। गद्य में जो कवि चुकता है वह अपनी असमर्थता को कथमपि छिपा नहीं सकता, इसीलिये गद्य कवियों की कसौटी कहा गया है—गद्यं कवीनां निकशं वदन्ति। गद्य दो प्रकार के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। दर्शनविषयक शास्त्रीय ग्रन्थों में जिसे हम शास्त्रीयगद्य कह सकते हैं तथा साहित्यिक ग्रन्थों जिसे हम साहित्यिकगद्य कह सकते हैं। शास्त्रीयगद्य में विषय के समझाने की ओर अधिक लक्ष्य होने के कारण इसमें शाब्दिक सौन्दर्य बहुत कम है। परन्तु कुछ शास्त्रीय ग्रन्थों में गद्य का सौन्दर्य साहित्यिक गद्य की अपेक्षा कथमपि कम नहीं है। ऐसे शास्त्रीय गद्य के उदाहरण पतञ्जलि के 'महाभाष्य', शबरस्वामी के 'मीमांसा भाष्य', शंकराचार्य के 'ब्रह्मसूत्र भाष्य' तथा जयन्तभट्ट की 'न्यायमंजरी' में मिलते हैं। साहित्यिकगद्य के आरम्भिक उदाहरण शिलालेखों में मिलते हैं। रुद्रदामन का गिरिनार शिलालेख

(द्वितीय शतक) तथा समुद्रगुप्त की प्रयागविजयप्रशस्ति (चतुर्थ शतक) में संस्कृत गद्य अपने पूर्ण सौन्दर्य के साथ विद्यमान है। अवान्तरकालीन गद्यकाव्यों में गद्य का जो मंजुल रूप हमारे चित्त को आवर्जित करता है उसका विशुद्ध रूप उन शिलालेखों में सर्वथा विद्यमान है। संस्कृत में गद्य का आरम्भ पञ्चम शताब्दी से समझना चाहिये। गद्यलेखकों में तीन लेखक सबसे अधिक विख्यात हैं—सुबन्धु, बाणभट्ट और दण्डी।

सुबन्धु

सुबन्धु—संस्कृत गद्यकवियों के आदिमआचार्य हैं। ये पञ्चम शतक में किसी विक्रमादित्य नामक राजा के यहाँ रहते थे। बाणभट्ट ने इनके गद्य की प्रचुर प्रशंसा की है। "इनकी वासवदत्ता ने कर्णगोचर होते ही कवियों के मद को उसी प्रकार गला दिया जिस प्रकार कर्ण की शक्ति ने पाण्डवों के मद को"। इनकी एकमात्र रचना है 'वासवदत्ता'। प्राचीनकाल में वासवदत्ता नाम की एक आख्यायिका बड़ी प्रसिद्ध थी। परन्तु वह आजकल बिल्कुल अनुपलब्ध है। इस वासवदत्ता की आख्यायिका कवि की निजी कल्पना का फल है। आख्यान तो बहुत ही कम है परन्तु सुबन्धु ने उसे अपनी प्रतिभा के बल पर सजाकर मनोरम चित्र प्रस्तुत किया है। सुबन्धु अपने श्लेष के लिये संस्कृतसाहित्य में सदा प्रसिद्ध रहेगें। उनकी स्वयं प्रतिज्ञा है कि उनके काव्य के प्रत्येक अक्षर में श्लेष हैं :—प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्धम्। सुजनैकबन्धु सुबन्धु ने इस प्रतिज्ञा को अक्षरशः निभाया है। श्लेष के कारण ही यह काव्य क्लिष्ट है। श्लेष उतने प्रसन्न नहीं हैं। बड़ी माथा-पच्ची के बाद कहीं समझ में आता है। परन्तु कादम्बरी के स्रष्टा महाकवि *बाणभट्ट* के काव्य में यह दोष बिल्कुल नहीं है।

बाणभट्ट

बाणभट्ट काशी के पूरब सोननद के किनारे स्थित 'प्रीतिकूट' के निवासी थे। इन्होंने अपना आत्मचरित बड़े विस्तार के साथ हर्षचरित के आरम्भ में दिया है जिससे पता चलता है कि ये धनाढ्य ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। लड़कपन में ही माता-पिता के मर जाने के कारण इन्होंने कुछ स्वच्छन्दता का जीवन बिताया। संगी-साथियों के साथ खूब देशाटन किया तथा विशेष अनुभव प्राप्त किया। अनन्तर कन्नौज के सम्राट् महाराज हर्ष-वर्धन (६०६-४७) के दरबार में बड़े सत्कार के साथ सभा-पंडित का उन्नत स्थान प्राप्त किया। यहीं रहकर इन्होंने अपनी अमर रचनाएं लिखीं जिनमें 'हर्षचरित' तथा 'कादम्बरी' मुख्य हैं। हर्षचरित में इन्होंने अपने आश्रयदाता हर्षवर्धन का जीवन-चरित बड़ी सुन्दर शैली में प्रस्तुत किया है। कादम्बरी तो बाणभट्ट का सर्वस्व है। इसके दो खण्ड है—पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध। पूर्वार्ध पूरे ग्रन्थ का दो तिहाई भाग हैं और यह बाण की रचना है। उत्तरार्ध पूरी कादम्बरी का केवल तृतीयांश है और पिता के मर जाने पर इस अंश की रचना कर पुलिन्दभट्ट ने कादम्बरी की पूर्ति की।

कादम्बरी

कादम्बरी संस्कृत गद्यसाहित्य का समुज्ज्वल हीरक है। भाषा और भाव—शब्द और अर्थ-दोनों का उचित सम्मिलन इस गद्यकाव्य में लक्षित होता है। वर्णनों की सुन्दरता की बात क्या पूछी जाय? कहीं विन्ध्याटवी की विकट अटवी तथा साहस-प्रेमी शबरसैन्य का रोमाञ्चकारी वर्णन है; तो कहीं धर्म की

साक्षात् मूर्ति, सदयता के परम अवतार, आध्यात्मिकता के ज्वलन्त निदर्शन, जाबालि मुनि तथा उनके परम पावन मनभावन आश्रम की सुभग शोभा दर्शकों का हृदय लुभा रही हैं। कहीं बाल्यकाल में गन्धर्वों के अङ्क में विहार करनेवाली कलभाषिणी वीणा की तरह मंजुभाषिणी—स्निग्धहृदया—महाश्वेता की विरह-विधुरा-मूर्ति का दर्शन मिलता है। तो कहीं अलोक-सामान्य सौख्यों का अनुभव करानेवाली गन्धर्वराजकन्या सरसहृदया कमनीय-कलेवरा कादम्बरी की प्रेममयी कथा श्रोताओं के चित्तचंचरीक को अपनी ओर आकृष्ट कर रही है। सर्वत्र ही अलंकारों का मधुर झंकार कानों को सुख दे रहा है। सच तो यह है अलंकार तथा रस के मधुर मिलन में—भाषा तथा भाव के परस्पर सम्पर्क में—कल्पना तथा वर्णना के अनुरूप संघटन में—कादम्बरी संस्कृत-साहित्य में अनुपम है, अद्वितीय है। कादम्बरी रसिक हृदयों को मत्त कर देनेवाली कादम्बरी है। मीठी मदिरा है। पुलिन्दभट्ट का यह कथन प्रत्येक सहृदय के विषय में चरितार्थ हो रहा है—

> कादम्बरीरसभरेण समस्त एव
>
> मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम्।

अलंकारों की छटा कादम्बरी में खूब देखने में आती है। उपमायें एक से एक बढ़िया उपलब्ध होती हैं, चमत्कारी श्लेष और सुन्दर परिसंख्यायें अधिकता से मिलती हैं। सुन्दर अर्थों की कमनीयता अतीव मनोहारिणी है। बाण की कविता मौलिक अर्थों की खान है, उसमें अर्थों का पिष्टपेषण नहीं दिखाई पड़ता। सर्वत्र नवीन अर्थ है। स्थान-स्थान पर नये रंगों को भरकर कवि ने प्रत्येक चित्र को अतीव विचित्र बना डाला है। अच्छोद सरोवर का रमणीय रूप-वर्णन किसे मुग्ध नहीं कर देता? इन्हीं गुणों के

कारण कादम्बरी गद्यकाव्य का चूडान्त निदर्शन है। इसीलिये आज भी मराठी भाषा बोलनेवाले लोग उपन्यास तथा कहानियों को 'कादम्बरी' के नाम से अभिहित करते हैं—

रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगत् मनोहरति।
सा किं तरुणी ? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य ॥

दण्डी

महाकवि दण्डी—ये दक्षिण भारत के निवासी थे। ये कांची के पल्लव नरेश सिंहविष्णु के राजकवि थे। इस प्रकार इनकी स्थिति सातवी शताब्दी में होना निश्चितप्राय है। दण्डी ने 'काव्यादर्श' लिखकर साहित्यशास्त्र का एक अनुपम ग्रन्थ उपस्थित किया है। 'दशकुमारचरित' उनकी प्रमुख गद्य रचना है। इस गद्यकाव्य में दशकुमारों का घटनापूर्ण विचित्र चरित्र सरल शब्दों में निवद्ध किया गया है। इस ग्रन्थ की शैली बड़ी रोचक तथा प्रसादमयी है। इसमें न तो सुबन्धु के समान प्रत्यक्षर में श्लेष निबद्ध करने का विफल प्रयास है और न तो बाणभट के समान समासबहुल प्राञ्जल गद्य लिखने का प्रयत्न है। प्रत्युत यह शैली की रोचकता रखते हुए घटनापूर्ण कथानकों को सरल सुबोध शब्दों में प्रस्तुत करने का सफल उद्योग है। इस ग्रन्थ के अनुशीलन से उस समय की विचित्र सामाजिक अवस्था का भी परिचय भली-भाँति मिलता है। दण्डी के अनन्तर भी गद्य के उपासक कवियों की कमी न रही।

इतर गद्यलेखक

जैन कवि *धनपाल* की 'तिलकमंजरी' कादम्बरी का सफल अनुकरण है। *सोड्ढल* की 'उदयसुन्दरीकथा' शैली की

दृष्टि से रोचक, उदात्त तथा ग्राह्य है। *वामनभट्ट बाण* का 'वेणुभूपाल चरित' ऐतिहासिक चरित्र होते हुए भी पर्याप्त साहित्यिक शोभा से सम्पन्न है। इस प्रकार संस्कृत गद्य के परिशीलन की ओर कवियों की दृष्टि अवश्य गई है। परन्तु पद्य की अपेक्षा उसकी मात्रा कम है। बाणभट्ट के समान संस्कृत में गद्य लिखनेवाला दूसरा कवि नहीं हुआ। संस्कृत का गद्य अपने सौन्दर्य, शोभनता, उदात्तता तथा रोचकता में किसी भी उन्नत भाषा के गद्य के साथ समता पा सकता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

चम्पू-काव्य

गद्य और पद्य के मिश्रणवाले काव्य को 'चम्पू' कहते हैं। इसमें कथानक गद्य में रहता है परन्तु मनोरम भावों को प्रदर्शित करने के लिये पद्य का आश्रय लिया जाता है। गद्य पद्य दोनों का यह गंगायमुनी सम्मेलन सहृदयों को इतना रुचिकर प्रतीत हुआ कि संस्कृत साहित्य में चम्पू-काव्य का एक नवीन साहित्य उठ खड़ा हुआ। संस्कृत काव्यों में चम्पू की पर्याप्त प्रचुरता है। हिन्दी में यह पनप न सका। हिन्दी के कविजन पद्य के पचड़े में इतने पड़े रहे कि उन्होंने इन गद्य की ओर ही अपनी दृष्टि न फेरी, चम्पू के अपनाने की बात तो दूर रही। परन्तु द्राविड़ी साहित्य में चम्पू की चर्चा खूब है। विशेषकर मलयालम भाषा के साहित्य में संस्कृत का व्यापक प्रभाव होने के कारण चम्पू का प्रचलन आज बहुत अधिक है।

संस्कृत का आदिम चम्पू-काव्य *त्रिविक्रमभट्ट* का बनाया हुआ 'नलचम्पू' है। इसकी रचना नवम शताब्दी के मध्य-भाग में की गई। त्रिविक्रमभट्ट सभङ्ग श्लेष के कवि हैं। उनके

समान सभङ्ग श्लेष लिखनेवाला कवि शायद ही संस्कृत में कोई दूसरा मिले। इनके श्लेष इतने प्रसन्न, शोभन तथा रमणीय हैं कि उन्हें पढ़ते ही चित्त फड़क उठता है। *भोजराज* (११ शतक) का 'रामायणचम्पू' काफी साफ-सुथरा है जिसमें रामचरितकी कथा चम्पू ढंग से लिखी गई है। *नीलकण्ठ दीक्षित* (१७ शताब्दी) का 'नीलकण्ठ चम्पू' भी कम रोचक तथा सुन्दर नहीं है। *वेङ्कटाध्वरि* (१७ शताब्दी) का 'विश्वगुणादर्श' चम्पू कल्पना की दृष्टि से एक अद्भुत वस्तु है। उसमें दो गन्धर्व विमान से भारत के प्रधान तीर्थों की यात्रा करते हैं। एक उन तीर्थों के दोष दिखलाने में निरत रहता है, तो दूसरा उसके शोभन गुणों को बतलाने में व्यस्त रहता है। यह ग्रन्थ तत्कालीन भारतीय समाज का सुन्दर चित्रण है। वेङ्कटाध्वरि मद्रास प्रान्त के निवासी थे। उन्होंने मद्रास में अपनी बस्तियाँ बनानेवाले अंग्रेजों को 'हूण' नाम से अभिहित किया है और उनके अहिन्दू आचारों के ओर भी संकेत दिखलाया है। *अनन्तकवि* (१७ श०) का 'भारत-चम्पू' चम्पू साहित्य में खूब प्रसिद्ध है। इसमें पूरे महाभारत का कथानक सुचारु रूप से प्रदर्शित किया गया है। इसकी शैली बहुत ही अच्छी, प्रसादमयी तथा भावपूर्ण है। 'आनन्दवृन्दावन' चम्पू में भगवान् कृष्णचन्द्र का पवित्र चरित्र बड़ी ही ललित भाषा में निबद्ध किया गया है।

उदात्तनायकोपेता गुणवद्-वृत्तमुक्तका।
चम्पूश्च हारयष्टिश्च केन न क्रियते हृदि ?

———

सप्तम परिच्छेद

कथा-साहित्य

कहानियों का साहित्य में विशिष्ट स्थान है। छोटी-छोटी घरेलू घटनाओं के द्वारा कहानियाँ पाठकों के चित्त पर जो प्रभाव जमाती हैं, वह प्रभाव बड़े-बड़े ग्रन्थों के द्वारा भो सम्पन्न नहीं किया जा सकता। कहानी का एक तो कलेवर ही छोटा होता है, दूसरे उसमें रोचकता का प्राचुर्य रहता है। कहानियों के लोकप्रिय होने का एक दूसरा भी कारण है। कथा और मानवसमाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य स्वभाव से ही कथाप्रिय है--वह कथाओं के कहने और सुनने में विशेष आनन्द लेता है। कथा की उन्नति सभ्यता की उन्नति की परिचायिका है। जंगली आदमियों में भी कहानियाँ चित्तविनोद की मुख्य साधन हैं, परन्तु विशुद्ध साहित्यिक कहानियों का सर्व प्रथम उदय संस्कृत साहित्य में ही हुआ।

कहानियों का जन्म वैदिक संहिताओं में ही दीख पड़ता है। ऋग्वेदसंहिता के अनेक सूक्त किसी विशिष्ट आख्यान को लक्षित करते हैं जिनका विस्तृत रूप हमें ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में मिलता है। 'शुनः शेप' का आख्यान ऋग्वेद के प्रथम मण्डल (सूक्त १।२४-३० सू०) में संक्षिप्त रूप में दिया गया है। इसी का विस्तार हमें ऐतरेय ब्राह्मण में उपलब्ध होता है। महाभारत तथा पुराणों में इन्हीं वैदिक आख्यानों के परिवर्धित संस्करणों को देखकर हम भारतीय कहानियों के विकास की रूप-रेखा का भलीभाँति अनुशीलन कर सकते हैं। ये कहानियाँ दो प्रकार की हैं—एक प्रकार में मनोह्लाद ही प्रधान लक्ष्य रहता है, दूसरे प्रकार

में किसी-पशु विशेष की कहानी सुनाकर उपदेश-ग्रहण मुख्य उद्देश्य रहता है। इस प्रकार संस्कृत कहानियों के दो प्रधान विभेद हैं—(१) मनोरंजक कहानियाँ और (२) उपदेशात्मक कहानियाँ।

बृहत्कथा

मनोरंजक कहानियों में *बृहत्कथा* प्राचीनता तथा महत्ता की दृष्टि सर्वश्रेष्ठ है। उस कराल काल को हम किन शब्दों में कोसें जिसने इस कथासाहित्य की मूल अमर रचना को कवलित कर डाला। यदि आज इसके संस्कृत अनुवाद प्रस्तुत नहीं होते, तो हम इसके मनोरम आकार-प्रकार के ज्ञान से भी सर्वदा के लिए वञ्चित हो जाते। प्रतिष्ठानपुर के नरेश राजा शालिवाहन के सभापण्डित महाकवि गुणाढ्य ने ईस्वी की प्रथम शताब्दी में इसकी रचना की थी। यह ग्रन्थ 'पैशाची भाषा' में रचा गया था। गुणाढ्य ने विन्ध्य के जंगल में निवास करते समय इसका निर्माण किया। यह ग्रन्थ महाभारत से सात गुना बड़ा बतलाया जाता है। मूल में इसमें ७ लाख श्लोक थे, परन्तु रह गये केवल एक लाख ही और वे भी मूलरूप में नहीं। इसके तीन संस्कृत अनुवादों में *बुधस्वामी* का 'बृहत् श्लोक समुच्चय' सबसे प्राचीन है। बुधस्वामी ने नैपाल में रहकर अष्टम या नवम शतक में इसका प्रणयन किया। अन्य दोनों अनुवाद काश्मीर में ही प्रायः एक ही शताब्दी में लिखे गये। क्षेमेन्द्र की 'बृहत् कथा मञ्जरी' में साढ़े सात हजार श्लोक हैं। तथा सोमदेव के 'कथा सरित् सागर' में बीस हजार श्लोक हैं। सोमदेव का ग्रन्थ मूल पुस्तक का विस्तृत तथा विश्वसनीय अनुवाद है। क्षेमेन्द्र की मञ्जरी काव्य की दृष्टि से विशेष महत्त्वशालिनी है। इसमें साहित्य की बहार खूब है। स्थान-स्थान पर प्राकृतिक

दृश्यों के अभिराम वर्णनों से यह बड़ा चटकीला हो गया है। सोमदेव की शैली सीधी-सादी है। शब्द चुभते हुए हैं, भाव-प्रकाशन में कहीं शिथिलता नहीं है। इन दोनों अनुवादों का समय ११ वीं शताब्दी है। पूरे ग्रन्थ में लम्बक (सर्ग) हैं। राजा उदयन का पुत्र नरवाहनदत्त अपने मित्र गोमुख की सहायता से अपनी प्रियतमा 'मदनमञ्जुका' के पाणिग्रहण करने तथा विद्याधरों का साम्राज्य प्राप्त करने में समर्थ होता है। अवान्तरकालीन कथा-साहित्य के ऊपर बृहत्-कथा का प्रभाव विशेषरूप से पड़ा है। रामायण तथा महाभारत के समान यह भी संस्कृतसाहित्य का जाज्वल्यमान हीरक है। महाकवि भास, श्रीहर्ष तथा भट्टनारायण अपने नाटकों के वस्तु ग्रहण के लिए बृहत्कथा के विशेषरूप से ऋणी हैं। बृहत्कथा की कीर्ति केवल भारत में ही सीमित नहीं हैं, अपि तु बृहत्तर भारत में भी फैली हुई है।

अन्य कहानियाँ

वेतालपञ्चविंशतिका (वैताल पचीसी) की रचना का श्रेय 'शिवदास' नामक लेखक को दिया जाता है। इस गद्य ग्रन्थ में राजा से विक्रम सम्बद्ध पचीस रोचक कहानियाँ सरल संस्कृत में कही गई हैं। प्रत्येक कथा में राजा की व्यावहारिक बुद्धि का पर्याप्त परिचय मिलता है। ये कहानियाँ काफी प्राचीन हैं, क्योंकि बृहत्कथामञ्जरी तथा कथा-सरित्सागर (११ शतक) में इनका विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। 'शुक सप्तति' तथा 'सिंहासन-द्वात्रिंशिका' (सिंहासन बतीसी) की कहानियाँ मनोरञ्जन की दृष्टि से नितान्त उपादेय हैं। कहानियों की सृष्टि में केवल ब्राह्मण कवि ही निपुण न थे, प्रत्युत बौद्ध पण्डितों ने भी संस्कृतसाहित्य में सुन्दर तथा मनोरम कथाओं का प्रणयन किया है। 'दिव्यावदान'

तथा 'अवदान शतक' में भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्म से सम्बद्ध कहानियाँ विद्यमान हैं। आर्यशूर की 'जातकमाला' में पद्यबद्ध जातकों की कथायें निबद्ध हैं। यह काव्य चतुर्थ शतक के आसपास लिखा गया। इत्सिंग नामक चीनी परिव्राजक (सप्तम शतक) ने 'आर्यशूर' को अपने समय का विशेष लोकप्रिय कवि बतलाया है।

उपदेशात्मक कथा

अब उपदेशात्मक कहानियों की ओर दृष्टि डालना आवश्यक है। इन कथायों में पशु-पक्षी के जीवनचरित्र से सुन्दर उपदेश लेने की बात पर जोर दिया गया है। इन कहानियों का उदय भी वैदिक काल में हुआ प्रतीत होता है। ऋग्वेद के मण्डूक सूक्त (७।६१) तथा छान्दोग्य उपनिषद् के शौव उद्गीथ में इस प्रकार के आख्यानों का स्पष्ट संकेत है। महाभारत में इन कहानियों का उपयोग राजनीति के दुरूह सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए किया गया है। विदुर धृतराष्ट्र से पाण्डवों को दण्ड देने से निषेध करते हैं, क्योंकि ऐसा करने में कहीं वह सोने के अंडा देनेवाली चिड़िया को मार न डाले। पाली भाषा में लिखित 'जातक' उपदेशात्मक कथाओं के अग्रणी हैं। इनमें भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्म की नाना कहानियाँ कहकर उनके साथ वर्तमान जन्म के पात्रों का मेल मिलाया गया है। भारहूत के स्तूपों पर अनेक जातक कहानियाँ अंकित की गई हैं जिससे जातकों का समय ईस्वी पूर्व द्वितीय शतक से प्राचीन ही सिद्ध होता है।

पञ्चतन्त्र

पञ्चतन्त्र—भारतीय कथा साहित्य का सर्वश्रेष्ठ प्राचीन ग्रन्थ है। यह भारत के नितान्त प्राचीन कहानियों का संग्रह है। इसके

भिन्न-भिन्न शताब्दियों में तथा भिन्न-भिन्न प्रान्तों में अनेक संस्करण हुए जिनमें सबका मूल 'तन्त्राख्यायिका' के नाम से विख्यात है। इसका जन्मस्थान काश्मीर हैं। पंचतन्त्र के आजकल चार संस्करण उपलब्ध हैं—(१) पंचतन्त्र का पहलवी अनुवाद, जो आज उपलब्ध नहीं है परन्तु इसकी कथाओं का परिचय सीरियन तथा अरबी अनुवादों से प्राप्य है। (२) गुणाढ्य की बृहत्कथा में अन्तर्निविष्ट है। (३) तृतीय संस्करण 'तन्त्राख्यायिका' तथा उसी से सम्बद्ध जैनकथा संग्रह है। आजकल प्रचलित पंचतन्त्र इसी का आधुनिक प्रतिनिधि है। (४) चौथा संस्करण दक्षिणी पंचतन्त्र का मूल रूप है। नैपाली पंचतन्त्र तथा प्रचलित हितोपदेश इसी संस्करण के प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार पञ्चतन्त्र एक सामान्य ग्रन्थ न होकर एक विपुल साहित्य का प्रतीक है।

पञ्चतन्त्र भारतीयसाहित्य का ही अंग नहीं है, यह तो विश्व-साहित्य का महत्वपूर्ण अंग है। इन कहानियों के भ्रमण की कथा विशेष रोचक तथा अद्भुत है। इसका अनुशीलन हमें बतलाता है कि करटक तथा दमनक ('सियार पांडे') की चतुरता भारत के तथा पश्चिमी जगत् के निवासियों को समभाव से आनन्दित करती रहती है। राजा शिवि के आत्म-त्याग की कथा राजा भोग के सभासदों को उसी प्रकार उपदेश देती थी, जिस प्रकार फारस के मशहूर बादशाह खुसरो नौशेरवाँ के दरबारियो को। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि फारस के बादशाह नौशेरवाँ ने (५३१ ई०-५७९ ई०) अपने दरबार के हकीम बुरजोई के द्वारा इन कहानियों का प्रथम अनुवाद ५३३ ई० में पहलवी (प्राचीन फारसी) भाषा में कराया। पचास वर्ष के भीतर ही 'बुद' नामक एक ईसाई पादरी ने पहलवी से सीरियन भाषा में ५७० ई० में कलिलग और दमनग के नाम से अनुवाद किया। सीरियन से अरबी भाषा में

अनुवाद किया गया जिसका नाम प्रथम तन्त्र के प्रधानपात्र 'करटक' तथा 'दमनक' के नाम पर 'कलीलह' और 'दमनह' रखा गया। यह हुई सातवीं शताब्दी में पञ्चतन्त्र के अनुवाद की बात। इस शताब्दी से पहले ही ये कहानियाँ भारत से पूरब भी पहुँच चुकी थीं, क्योंकि चीनभाषा के दो विश्वकोषों में (जिनमें प्राचीन-तर ६३८ ई० में रचित है) इन भारतीय कहानियों के अनुवाद पाये जाते हैं। इस प्रकार अपनी रचना के दो शताब्दी के भीतर ही पञ्चतन्त्र की कहानियाँ अरब से लेकर चीन तक फैल गई।

अरबी अनुवाद के सहारे पूरब और पच्छिम के अनेक देशों में इन मनोरंजक कहानियों ने प्रवेश किया। अरबी भाषा का अनुवाद ७५० ई० के आसपास अब्दुल्ला इब्न उल मुक़फ्फा ने किया था। इसी अनुवाद का आश्रय लेकर पञ्चतन्त्रकी कहानियाँ हिब्रू, लैटिन, ग्रीक, इटेलियन, फ्रेञ्च, जर्मन तथा अंग्रेजी भाषाओंमें १६ वीं शताब्दी के पूर्व ही रूपान्तरित होकर अखिल पाश्चात्य जगत् का मनोरञ्जन करने लगीं। ये कहानियाँ विदापई (विद्या-पति) की कहानियों के नाम से विख्यात हुई। इस प्रकार पंचतंत्र तथा हितोपदेश की कहानियों के आधार पर ही यूनानी ईसाप की कहानियों तथा अरेब्रियन नाइट्स (अलीफ लैला) की रचना हुई, यह विद्वानों की मान्य सम्मति है। सच तो यह है कि संस्कृतसाहित्य ने विश्व-साहित्य को जो सरस वस्तुएँ प्रदान की हैं उनमें इन कहानियों का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है। गीता और शाकुन्तल नाटक विद्वानोंके मनन तथा अनुशीलन की वस्तुएँ हैं, परन्तु पञ्चतन्त्र जन साधारण के हृदय को आह्लादित करनेवाला मञ्जुल साहित्य है।

—

अष्टम परिच्छेद

नाटक

जिस काव्य का अभिनय किया जा सके और इस प्रकार जो हमारे नेत्रों के द्वारा हृदय का आवर्जन कर सके उसे 'दृश्य काव्य' कहते हैं। दृश्य काव्य का ही दूसरा नाम 'रूपक' है। रुपक दस प्रकार के होते हैं—(१) नाटक (२) प्रकरण (३) प्रहसन, (४) भाण (५) डिम (६) व्यायोग (७) समवकार (८) वीथी (९) अंक (१०) ईहामृग। इन भेदों के पृथक् पृथक् लक्षण हैं तथा निजी महत्त्व हैं। परन्तु इनमें नाटक की प्रतिष्ठा तथा महत्ता सबसे अधिक है। अन्य भेदों के भी दृष्टान्त मिलते हैं, परन्तु नाटक लिखने की तरफ कवियों की प्रवृत्ति सबसे अधिक होने से उसी के उदाहरण सबसे अधिक हैं। नाटक काव्य-मन्दिर का कलश स्थानीय है। कवि की प्रतिभा का पूरा और सर्वाङ्गीण विकास नाटक के रूप में ही होता है। इसीलिये संस्कृत में कहावत है—'नाटकान्तं कवित्वम्'=काव्य का पर्यवसान नाटक है। जगत् के समग्र भावों का प्रतिपादन, नाना अवस्थाओं का निदर्शन, तथा लोकवृत्त का अनुकरण नाटक का प्रधान ध्येय है। नाटक के लिये वृत्त का प्रसिद्ध होना, आदर्श गुणों से मण्डित, राजा या दिव्य पुरुष का नायक होना नितान्त आवश्यक होता है।

उत्पत्ति

संस्कृत नाटक का साहित्य विशाल, महत्त्वपूर्ण तथा ऊँची प्रतिभा का परिचायक है। काव्यों के लिखने में संस्कृत कवियों की प्रतिभा जितनी चमकी है उससे अधिक चमक-दमक नाटकों के

प्रणयन में दीख पड़ती है। जिस ग्रन्थ ने पाश्चात्य जगत के विद्वानों की दृष्टि भारतीयों के सरस हृदय तथा उदात्त भावना की ओर आकृष्ट किया, वह 'अभिज्ञान् शाकुन्तल' कालिदास का नाटक ही था। इस नाटक की उत्पत्ति साहित्य के विशिष्ट अंग के रूप में कब हुई तथा किन उपकरणों को लेकर भारतीय नाटक का उदय हुआ ? इन प्रश्नों के उत्तर में विद्वानों का एक मत नहीं दिखाई पड़ता। कुछ विद्वान् 'वीरपूजा' से नाटक की उत्पत्ति बतलाते हैं तो कुछ पण्डित प्रकृति की घटना को मूर्तरूप में दिखलाने की प्रवृत्ति से नाटक का उदय मानते हैं। वेदों में बहुत से मन्त्र हैं जिनमें किसी विशिष्ट देवता की स्तुति न होकर दो व्यक्तियों के कथोपकथन हैं। इन्हें 'संवाद सूक्त' कहते हैं। संस्कृत नाटक के बीज इन्हीं संवाद सूक्तों में अन्तर्निहित हैं। भरत नाट्यशास्त्र के आरम्भ में नाट्य के उदय का वर्णन मिलता है। ब्रह्मा जी ने ही देवताओं के आग्रह करने पर सब वर्णों के उपयुक्त इस नाट्यवेद की उत्पत्ति की। अन्य चारों वेद तो तीनों उच्च वर्णों के लिये ही होने से नाट्य-वेद का उद्दे स्त्री,श्य शूद्र बाल, वृद्ध सबका मनोरंजन है। उन्होंने ऋग्वेद से पाठ्य (नाटक में पठनीय अंश), यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीति तथा अथर्ववेद से रसों को ग्रहण किया—

> जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
> यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥

और इन चारों अंग से युक्त नाट्यवेद की उत्पत्ति की। अतः उसे 'पञ्चमवेद' कहते हैं। इसका प्रथम प्रयोग इन्द्रध्वज नामक उत्सव के अवसर पर भरत मुनि ने अपने शिष्यों तथा अप्सराओं की सहायता से किया। इस अभिनय में देवताओं के द्वारा दानवों का पराजय दिखलाया गया था जिससे दैत्य लोग अप्रसन्न होकर

प्रयोग में विघ्न उत्पन्न करने के लिए तैयार हो गये। तब ब्रह्मा ने विश्वकर्मा के द्वारा रङ्गस्थल का निर्माण कराया। रङ्गमण्डप तीन प्रकार के होते हैं। एक तिकोना, दूसरा चौकोना तथा तीसरा गोलाकार—इन तीनों का उपयोग भिन्न-भिन्न प्रकार के रूपकों के अभिनय के लिये किया जाने लगा। भरत के इस वर्णन से स्पष्ट है कि भारतीय नाटक का उदय वेदों के ही उपकरणों को लेकर हुआ है, तथा वह भारत की निजी प्रतिभा का विकास है। इसके लिये भारतीय लोग किसी भी अन्य देश की कला के ऋणी नहीं हैं।

यूनानी प्रभाव

कुछ लोग भारतीय नाट्य के ऊपर ग्रीक नाटकों का प्रभाव बतलाते हैं। परन्तु दोनों के स्वरूप में इतना अन्तर है कि इस प्रभाव की आंशिक सत्ता भी स्वीकार करना प्रमाण-विरुद्ध है। भारतीय नाटक सर्वदा सुखान्त ही होता है। परन्तु ग्रीक नाटकों में सुखान्त तथा दुखान्त उभय प्रकार के भेद पाये जाते हैं। ग्रीक नाटकों में 'स्थान-एकता', 'काल-एकता', तथा 'कार्य-एकता'—इन तीन एकताओं का अस्तित्व रहता है। अर्थात् ये नाटक एक ही स्थान पर, एक ही काल में, एक ही उद्देश को लेकर अभिनीत होते हैं। हमारे नाटकों में केवल कार्य एकता ही विद्यमान रहती है। उनका अभिनय न तो एक स्थान पर होता है और न एक ही काल में। उत्तरराम चरित के प्रथम तथा द्वितीय अङ्क के समय में बारह वर्ष का अन्तर है। पहले अङ्क का दृश्य अयोध्या के राजप्रसाद में है, तो दूसरे का सम्बन्ध दण्डकारण्य से है। संस्कृत नाटकों में परदे को 'जवनिका' कहते हैं। परन्तु इसे कुछ लोग 'यवनिका' का विकृत रूप देकर नाटकों को यवनों के प्रभाव से

विकसित होना बतलाते हैं। यह भी बिलकुल इतिहास-विरुद्ध तथा युक्ति विरुद्ध है। मूल शब्द जवनिका है, यवनिका नहीं। और इसका अर्थ भी परदे के सिवाय नाव के ऊपर तानने लायक 'पाल' तथा खेमों के चारों ओर खड़ा किये जानेवाले 'कनात' के लिये आता है। ग्रीस के नाटक खुले मैदान में सबके सामने अभिनीत किये जाते थे। उनमें किसी प्रकार का परदा ही न था। ऐसी स्थिति में भारत के परदे को यवन नाटकों से उधार लिया गया मानना कहाँ तक उचित है? इसका विचार विज्ञ पाठक स्वयं करें। सच्ची बात यह है कि नाटक भारतीयों की निजी रमणीय प्रतिभा का अभिराम परिणाम है। नाटकों के अभिनय का वर्णन रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में मिलता है जिनकी रचना के समय भारतीयों का यूनानियों के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क ही न था। पाणिनि ने शिलालि तथा कृशाश्व के द्वारा रचित नट-सूत्रों का उल्लेख अष्टाध्यायी में किया है। पाणिनि का समय ईसा पूर्व सप्तम शतक है। इस समय भारतीय लोग ग्रीकों से कथमपि परिचित नहीं थे। निष्कर्ष यह है कि भारतवर्ष में नाटक-कल्पतरु यहीं के बीजों से उगा है। वह कहीं अन्यत्र से लाकर उगाया गया वृक्ष नहीं है। यहाँ विख्यात नाटककारों का क्रमबद्ध परिचय दिया जाता है।

कालिदास

महाकवि कालिदास हमारे प्रथम नाटककार हैं जिनके ग्रन्थ भारतवर्ष में ही नहीं बल्कि विदेशों में भी विशेष आदर तथा सम्मान के पात्र हैं। उनके पहले भास, सोमिल्ल, कविपुत्र के नाटक जनता के प्रियपात्र थे। परन्तु इन माननीय कवियों के ग्रन्थ विस्मृति के गर्त में अभी तक डूबे हुए हैं। कालिदास के व्यक्तित्व से

हम परिचित हैं। वे राजा विक्रम की सभाके रत्न थे और आज से दो हजार वर्ष पहले इस भारत भूमि में उत्पन्न हुए थे। इनके तीन नाटक हैं—(१) *विक्रमोर्वशी* जिसमें उर्वशी और पुरूरवा का विख्यात वैदिक आख्यान सुन्दर नाटक के रूप में वर्णित है। (२) *मालविकाग्निमित्र*—इसमें मालविका और राजा अग्निमित्र की प्रेमकथा का वर्णन है। यह नाटक ऐतिहासिक तत्त्वों से पूर्ण है। इसके नायक अग्निमित्र मौर्यराज्य के विध्वंसक तथा शुंग वंश के संस्थापक राजा पुष्यमित्र के ज्येष्ठ पुत्र हैं। (३) तीसरा नाटक *अभिज्ञानशकुन्तल* या *शाकुन्तल* है जिसमें चन्द्रवंशी नरेश राजा दुष्यन्त तथा शकुन्तला की प्रणय-कथा नितान्त अभिराम तथा कल्पना प्रसूत शब्दों में अङ्कित की गई है। इस नाटक की मूल कथा महाभारत के आदि-पर्व में उपलब्ध होती है परन्तु यह अत्यन्त अरोचक तथा आदर्शहीन है। इसे अपनी प्रतिभा के बल पर सुसज्जित कर अमर कवि कालिदास ने जिस नाटक को रचा है वह दो हजार वर्षों से भारतीय विद्वानों तथा जनता का ही मनोरंजन नहीं करता आया है, बल्कि सैकड़ों वर्षों से अन्य देशों के भी सहृदयों के हृदय को विमुग्ध करता रहा है। यह कालिदास की ही सर्वश्रेष्ठ रचना नहीं है, प्रत्युत संस्कृत नाट्य-भारती का मुक्तामणि है।

कालिदास की नाट्यकला

वस्तु के विकास में, पात्रों के चित्रण में तथा रस के प्रदर्शन में कालिदास की अद्भुत प्रतिभा हमें पद-पदपर चमत्कृत करती है। कालिदास के पात्र जीते जागते, भारतीय संस्कृत के परम रमणीय कल्पनामय जीव हैं। उनका चित्रण इस खूबी के साथ किया है कि वे हमारे सामने मूर्त रूप में उपस्थित होकर अपना व्यक्तित्व

स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करते हैं। उर्वशी, मालविका, धारणी, अनुसूया, प्रियंवदा तथा शकुन्तला ऐसे ही सजीव तथा तेजस्विता से मण्डित स्त्रीपात्र हैं। पुरुष पात्रों में पुरुरवा, आयु, अग्निमित्र, तथा दुष्यन्त नितान्त नूतन व्यक्तित्व लेकर हमारा मनोरंजन साधन करते हैं। आन्तरिक प्रवृत्तियों के संघर्ष को दिखलाने वाले नाटक विशेष प्रभावशाली तथा चिरस्थायी माने जाते हैं। इस कसौटी पर कसने से शाकुन्तल का सौन्दर्य और भी खरा उतरता है। इसमें कवि ने धर्म तथा काम का संघर्ष बड़े ही सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त किया है। आरम्भ में दुष्यन्त का चरित्र बिल्कुल हल्का तथा साधारण कोटि का है। वह आश्रम में जाकर ऋषि-कन्या के साथ प्रेम करने में किसी प्रकार का अधर्म नहीं देखता। इस काम-वासना का दण्ड दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों को मिलता है। राजा शकुन्तला का परित्याग करता है। वह जाकर मारीच आश्रम में तपस्या की आग में अपने को शुद्ध करती है। और राजा भी शकुन्तला के वियोग में अपने चरित्र को शुद्ध करता है। तब दोनों का वास्तव मिलन होता है। इसी उत्थान में शकुन्तला का सौन्दर्य निहित है।

मनुष्यों के हृदय की परख कालिदास को विशेषरूप से थी, यह कथन तो पुनरुक्ति मात्र है। वे बाह्य प्रकृति के जितने पर्य-वेक्षक थे उतने ही बड़े समीक्षक वे मानव प्रकृति के भी थे। विभिन्न अवस्थाओं में प्रेमी और प्रेमिकाओं के हृदय में जो भाव अपना खेल दिखलाया करते हैं उन्हें उपयुक्त शब्दों में वर्णन करना कालिदास की अपनी कला है। उनमें शृङ्गाररस की प्रधानता तो विद्यमान अवश्य है पर साथ ही साथ वीर, करुण, तथा हास्य का भी मनोहर पुट है। उन्हें हम इन नाटकों में भी भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि के रूप में पाते हैं। वे कभी भी छिछले तथा

हलके गुणों को लेकर पात्र की कल्पना नहीं करते। प्रत्युत किसी मूल प्रवृत्ति पर ज़ोर देकर अपने विश्ववन्दित पात्रों की सृष्टि करते हैं। इसीलिये इनके नाटकों में विश्व के कल्याण के लिये मनोरम सन्देश दिया गया है जिसका आचरण आज के मानव समाज के लिये भी परम मंगलमय है। इन्हें पश्चिमी शैली से जाँचा जाय या पूर्वी शैली से देखा जाय, कालिदास का दरजा भारतीय कवियों में सबसे ऊँचा ठहरता है। ये भारत के कवि न होकर विश्व के इने गिने कवियों में अन्यतम हैं :—

अस्पृष्टदोषा नलिनीव दृष्टा हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः।
प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या न कालिदासादपरस्य वाणी ॥

भास

आजकल भास के नाम से तेरह नाटक प्रकाशित हुए हैं जिनके उद्धार करने का श्रेय महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री को है। इन नाटकों में कुछ राम-कथा, कुछ महाभारत-कथा, कुछ उदयन चरित से सम्बद्ध हैं। कतिपय नाटकों का विषय नवीन भी है। इन नाटकों के नाम हैं:—(१) स्वप्नवासवदत्त, (२) प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण, (३) अभिषेक, (४) प्रतिमा, (५) मध्यम-व्यायोग, (६) दूतघटोत्कच, (७) कर्णभार, (८) पञ्चरात्र, (९) उरुभंग, (१०) अविमारक, (११) दरिद्र चारुदत्त, (१२) कर्णभार, (१३) बाल चरित। ये नाटक सरल सुबोध तथा अभिनय-योग्य हैं। वस्तु-विन्यास तथा पात्रों का चरित भी काफी अच्छा है। परन्तु इनके रचयिता के विषय में अभी तक अन्तिम निर्णय नहीं हो सका। इन नाटकों की भाषा, भाव तथा पारिभाषिक शब्द सब एक समान हैं। प्राचीनकाल में 'स्वप्नवासव-दत्त' भास की श्रेष्ठ रचना बतलाया गया है। अतः कुछ लोग

प्राचीन भास को ही इनका कर्ता बतलाते हैं। परन्तु यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता क्योंकि अलंकार ग्रन्थों में भास के नाम से जो श्लोक तथा जो कथाभाग मिलते हैं वे इन नाटकों में नहीं पाये जाते। इनका प्रचार भी केवल केरल प्रदेश में ही था। अतः ये किसी केरल देश के कवि की रचनायें होंगी। संभव है कि प्राचीन भास के भी मूल अंश जहाँ तहाँ इनमें हों।

विशाखदत्त

'विशाखदत्त' (चतुर्थ शतक) का 'मुद्राराक्षस' कूटनीति प्रधान है। इसमें दिखलाया गया है कि किस प्रकार चाणक्य ने राक्षस को अपनी ओर मिलाकर चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रधान मन्त्री बनने में सफलता प्राप्त की। चाणक्य तो थे कूटनीति के गुरु। इसलिये अपने कार्य की सिद्धि में अपनी कूटनीति का इन्होंने खूब ही जौहर दिखलाया है। इसीलिये कथानक बड़ा पेचीदा हो गया है। पात्रों का चित्रण युगलरूप में किया गया है। चाणक्य और राक्षस, चन्द्रगुप्त मलयकेतु ऐसे ही युगलपात्र हैं जिनमें एक का चरित्र दूसरे के चरित्र को परिस्फुटित करता है। चाणक्य कूटनीति के आचार्य, दूरदर्शी मंत्री, नाना प्रकार के गुप्तचरों से अपनी कार्य सिद्धि करनेवाले सफल शासक हैं परन्तु साथ ही साथ उसका हृदय भी कोमल है। राक्षस कूटनीति में असफल निकलता है परन्तु उसमें मानवता प्रभूत मात्रा में भरी है। मित्र की प्राणरक्षा के लिये वह अपने आपको बन्धन में डालकर उसका उद्धार करता है। सचमुच वह सच्चा मित्र है। चन्द्रगुप्त बड़ा ही गुरुभक्त, प्रजानुरञ्जक, दृढ़पराक्रम नरपति है जिसके सामने अपने उपकारी को भी न पहचाननेवाला मलयकेतु एक सामान्य अनुभवहीन युवकमात्र है। यह नाटक गुप्तकाल में लिखा गया। विशाखदत्त

ने ही 'देवीचन्द्रगुप्त' नामक दूसरा नाटक भी लिखा है जिसके उपलब्ध अंशों में चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' की कथा है।

शूद्रक

भास के दरिद्रचारुदत्त के कथा वस्तु को लेकर शूद्रक (पञ्चम-शतक) ने अपना मृच्छकटिक बनाया। यह प्रकरण है जिसका कथानक कवि की कल्पना का फल होता है। इसमें दस लम्बे-लम्बे अङ्क हैं जिनमें चारुदत्त नामक धनाढ्य परन्तु सम्प्रति निर्धन, आदर्शचरित ब्राह्मण तथा वसन्तसेना नामक गुणसम्पन्न वेश्या की प्रणयकथा का वर्णन है। समाज के चित्रण करनेवाले संस्कृत रूपकों में यह ग्रन्थ सर्वश्रेष्ठ है। अधिकतर नाटकों में तो हम राजदरबारों का ही चित्र पाते हैं। परन्तु यहाँ हम जनता के हृदय की सच्ची झाँकी देखते हैं। इसमें भारतीय समाज के निम्न स्तर के लोगों का चित्र भी बड़ी सुन्दरता से खींचा गया है। जुआड़ी लोग किस प्रकार जूआ में हारे हुए पुरुषों पर धौल-धप्पड़ जमाते हैं, इसी की अच्छी बानगी हमें यहाँ मिलती है। पात्रों का चित्रण भुलाने की चीज नहीं है। 'चारुदत्त' निर्धन है परन्तु उसमें सज्जनता तथा दीनों पर दयालुता कूट-कूट कर भरी है। 'वसन्तसेना' वेश्या होकर भी विशुद्ध प्रेम दिखलाती है। परन्तु इन सबसे विलक्षण है राजा का स्यालक 'शकार', जिसकी शकार और ककार से संपुटित (शकारी) भाषा तथा ऊटपटांग बातचीत से दर्शकों के हृदय में हँसी का फौआरा फूट पड़ता है। इन सब गुणों के कारण मृच्छकटिक नाट्यसाहित्य में ऊँचा स्थान रखता है।

हर्षवर्धन

हर्षवर्धन (६०६ ई०-६४८ ई०) कवियों के आश्रयदाता ही न थे प्रत्युत स्वयं भी सरस्वती देवी के परम उपासक थे। वे बाणभट्ट, मयूरभट्ट तथा मातङ्गदिवाकर के आश्रयदाता थे तथा कन्नौज से समग्र उत्तरी भारतवर्ष पर राज्य करते थे। इनके तीन रूपक मिलते हैं—(१) रत्नावली (२) प्रियदर्शिका (३) नागानन्द। इनमें प्रथम दोनों नाटिकायें हैं जिनमें राजा उदयन की विचित्र प्रेम कहानियों का वर्णन किया गया है। राजा उदयन की महिषी थी वासवदत्ता। परन्तु मगध की राजकुमारी पद्मावती के साथ उनका विवाह तथा अन्य कुमारिकाओं के साथ उनके प्रेम-बन्धन की कथायें यहाँ वर्णित हैं। 'नागानन्द' का कथानक बौद्ध जातकों से लिया गया है। यह बड़ा ही उदात्त-चरित है। इसका नायक जीमूतवाहन गरुड़से नागों की रक्षा करने के लिये अपने प्रिय प्राणों को भी बलि दे देता है। उसे अपना जीवन प्रिय नहीं है। उसे प्रिय है पर उपकार—दूसरे का हितचिन्तन, विश्व का मङ्गलसाधन। इस पात्र की कल्पना बड़ी ही मनोरम, पवित्र तथा उदात्त हो पाई है।

भट्ट नारायण

वेणीसंहार नाटक महाभारत-विषयक नाटकों में प्रमुख स्थान रखता है। इसकी प्रसिद्धि का पता इसी से लगता है कि धनिक ने दशरूपक की टीका में इस नाटक के बहुत ही अधिक उदाहरण दिये हैं। इसके रचयिता भट्ट नारायण (७ श०) हैं। ये उन पाँच कान्यकुब्ज वैदिक ब्राह्मणों में अन्यतम थे जिन्हें बंगाल के राजा आदिशूर ने बंगाल में वैदिकधर्म के प्रचार के लिये कान्यकुब्ज से बुलाया था। अतः इनका समय सातवीं शताब्दी के लगभग होना चाहिये।

इनकी एक ही रचना है और वह है 'वेणीसंहार'। 'संहार' का अर्थ है बाँधना। वेणीसंहार का अर्थ हुआ 'वेणी का बाँधना'। दुःशासन के द्वारा केशकर्षण के अनन्तर द्रौपदी ने प्रतिज्ञा की थी कि कौरवों के बिना अन्त हुए वह अपने केशों को नहीं बाँधेगी। दुर्योधन को मारकर अपने रक्त-रञ्जित हाथ से भीमसेन ने उसे बाँधा। यही इस नाटक में दिखलाया गया है। पूरे महाभारतका नाटक बड़ी ही सफलता से दिखलाया गया है। कथानक के अनुरूप ही इसकी कविता है—ओज गुण से युक्त तथा बहुत अधिक समासों से पूर्ण। पात्रों का चित्रण भी काफी सफल हुआ है। युधिष्ठिर सात्त्विक, धीर-प्रकृति नायक हैं। भीमसेन उद्धत योद्धा हैं। अर्जुन अदम्य उत्साह के मूर्ति हैं। और प्रतिनायक दुर्योधन अभिमान का जीता जागता पुतला है। भाव तथा भाषा में दोनों दृष्टियों से यह नाटक श्लाघ्य हैं। संवादों की बहुलता होने के कारण इसमें अभिनय-शीलता की कमी है।

भवभूति

भवभूति (८ शतक) के जोड़ का नाटककार कालिदास को छोड़कर संस्कृत साहित्य में दूसरा कोई नहीं हुआ। भवभूति के हाथ में संस्कृत भारती नटी के समान मनोहर लास्य दिखलाकर दर्शकों के हृदय का आवर्जन करती है। ये कान्यकुब्ज के नरेश यशोवर्मा के दरबार में रहते थे। इन यशोवर्मा को काश्मीर के राजा जयापीड़ ने ७४२ ई० में परास्त किया था।

कविर्वाक्पतिराज-श्रीभवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥

अतः भवभूति का समय सातवीं शताब्दी का अन्त तथा आठवीं शताब्दी का आरम्भ काल है। किसी कारण इनके नाटकों

की उस समय इतनी लोकप्रियता न थी जितनी उन्हें अपनी योग्यता तथा गुण के कारण उचित थी। इसलिये भवभूति ने कुछ खिन्न होकर विद्वानों को ललकारा है कि इस विपुल पृथ्वी पर कोई न कोई मेरा समानधर्मा उत्पन्न होगा जो इन नाटकों के मर्म समझने में कृतकृत्य होगा।

इनकी कृतियाँ नाटक ही हैं जो संख्या में तीन हैं—(१) महावीर चरित—रावण-विजय तक रामचरित का ओजस्वी वर्णन। (२) मालतीमाधव—मालती तथा माधव के परम पावन प्रेमकथा का नितान्त अभिराम चित्रण। (३) उत्तरराम चरित—भगवान् रामचन्द्र के लंका-विजय के अनन्तर का कथा वृत्त, जिसमें सीता के परित्याग तथा पुनः ग्रहण का पवित्र उदात्त चरित्र वर्णित है। उत्तरराम-चरित तो भवभूति की नाट्यकला का चूडान्त निदर्शन है। विदग्ध समाज इसे कालिदास की रचना से भी एक स्वर में श्रेष्ठ मानने के लिये उद्यत है—'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते'—उत्तरराम चरित में भवभूति कालिदास से बढ़ गये हैं। यह पण्डित समाज की सर्वमान्य सम्मति है।

नाट्यकला

भवभूति की सबसे बड़ी विशेषता है—राम चरित का सुचारु चित्रण। इसी कारण भवभूति के पश्चाद्वर्ती अनेक कवियों ने रामकथा को नाटकरूप देने के लिये लेखनी उठाई। परन्तु सफलता उनसे कोसों दूर रही। बात यह है कि राम-कथा है करुणमयी। और भवभूति है करुणरस के कवि। इस करुणकथा का जितना चित्रण भवभूति की भव्य लेखनी ने किया उतना वाल्मीकि को छोड़कर और किसी कवि ने नहीं किया। भवभूति प्रकृति के विकट, बीहड़ तथा भयावह स्वरूप के सफल चित्रकार हैं। कालिदास में तो प्रकृति का केवल मृदुल रूप हमारे नेत्रों का आवर्जन

करता है। विशुद्ध प्रेम के चित्रण में भी भवभूति बेजोड़ हैं। वह प्रेम जो धर्म का विरोधी नहीं है, जिसमें सुख दुःख का अद्वैत है, सब अवस्थाओं में अनुकूल है, जहाँ हृदय को विश्राम मिलता है वह भवभूति के नाटकों के द्वारा चित्रित प्रेम है, रूप के सौन्दर्य से उत्पन्न काम कथमपि नहीं। भवभूति 'रस सिद्ध' कविराज हैं और उनका सिद्ध रस है करुण रस। इस रस के प्रदर्शन में इन्हें महती सफलता प्राप्त हुई है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इनकी सम्मति में तो केवल करुण ही एक रस है और अन्य रस तो उसीके विकृतिमात्र हैं। इन्हीं सब गुणों के कारण इनके नाटक, विशेषतः उत्तरराम-चरित संस्कृतसाहित्य का ही नहीं, प्रत्युत विश्वनाटक साहित्य की एक दिव्य विभूति है।

राजशेखर

राजशेखर (१० श०) का नाम संस्कृत के नाटक रचयिताओं में पर्याप्त रूप से प्रसिद्ध है। ये अपने को वाल्मीकि का अवतार मानते हैं। ये यायावर वंश के ब्राह्मण थे जिसमें अकालजलद, कविराज, तरल जैसे प्रसिद्ध कवि हो गये थे। ये स्वयं कान्यकुब्ज नरेश प्रतिहार वंशी महेन्द्रपाल तथा महीपाल (९२५ ई०) की राज्यसभा को सुशोभित करते थे। दरबार में इन का बड़ा आदर था और वह था इनकी कमनीय कविता के कारण। इनके चार नाटक मिलते हैं— (१) कर्पूर मञ्जरी जो बिल्कुल प्राकृत में लिखा गया सट्टक (नाटिका) है। (२) विद्धसालभंञ्जिका—यह राजसी दरबार की एक नाटिका है। (३) बालभारत या प्रचण्ड पाण्डव-महाभारत से सम्बद्ध अधूरा नाटक है जिसमें केवल आदि के दो ही अंक उपलब्ध हैं। (४) बालरामायण—राजशेखर के नाटकों में सबसे यही श्रेष्ठ है। इसमें लम्बे लम्बे दस अंक हैं और पूरे रामचरित का एक ही नाटक में समावेश किया है। मात्रा में यह

नाटक बहुत बड़ा है। राजशेखर 'शब्द कवि' हैं। शब्दों की नोकझोंक, वाक्यों का सुन्दर विन्यास इनकी कविता की विशेषता है। ये 'वेदज्ञ' न कहकर 'श्रुत्यर्थवीथीगुरुः' कहना पसन्द करते हैं। इनकी प्रतिभा रूपक के अनुकूल न होकर महाकाव्य के अनुकूल है। यदि इन्होंने कोई महाकाव्य लिखा होता तो इन्हें अधिक सफलता प्राप्त हुई होती। इनके काव्य में वर्णन की बहुलता है। ये लम्बे लम्बे छन्दों के लिखने में विशेष सिद्धहस्त हैं। शार्दूल विक्रीडित के तो ये आचार्य ही हैं।

अन्य नाटककार

रामचरित के ऊपर संस्कृत कवियों ने और भी अनेक नाटकों का निर्माण किया है। *मुरारि* कवि राजशेखर के पहले हुए। लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व। इन्होंने 'अनर्घराघव' नामक नाटक बनाया है। इस नाटक में कोमल काव्यकला का प्रदर्शन नहीं है। लम्बे लम्बे छन्दों में अनगढ़ कुछ कटु शब्दों की ही भरमार अधिक है। परन्तु यह दोष जयदेव के 'प्रसन्नराघव' में नहीं है। ये राजशेखर के लगभग तीन सौ वर्ष बाद हुये और सम्भवतः मिथिला के निवासी थे। ये तार्किक भी प्रतीत होते हैं परन्तु उनकी कविता में सचमुच सहृदयों के हृदय को आकर्षण करने की शक्ति वर्त्तमान है। इनका प्रसन्नराघव वास्तव में राम का प्रसन्न चरित है। मध्यकाल में भी इस नाटक की खूब प्रसिद्धि हुई। महाकवि तुलसीदास ने इस नाटक के केवल भावों को ही नहीं प्रत्युत अनेक अभिराम दृश्यों को भी रामचरितमानस में अपनाया है। वाटिका-भ्रमण का कथानक प्रसन्नराघव के रचयिता जयदेव की सुन्दर सूझ है। ये जयदेव गीतगोविन्द रचयिता से लगभग दो सौ वर्ष पीछे हुए। कहना व्यर्थ है कि उनसे ये नितान्त भिन्न हैं।

नवम परिच्छेद

अलंकार शास्त्र

संस्कृत में अलंकार शास्त्र स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में विद्यमान है। आज से लगभग डेढ़ हजार पूर्व से लेकर आजतक इस शास्त्र के सिद्धान्त को प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थों का प्रणयन होता आ रहा है। साधारण दृष्टि से यही प्रतीत होता है कि ये अलंकार-ग्रन्थ वस्तुतः एक ही प्रकार के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं, परन्तु बात ऐसी नहीं है। अलंकार शास्त्र के विविध सिद्धान्तों का विकास अनेक शताब्दियों में होनेवाले आलंकारिकों की आलोचना शक्ति का परिचायक है। संस्कृत में केवल काव्य के बाह्य अंगों का ही अध्ययन नहीं है—शब्द तथा अर्थ के नाना प्रकार के दोषों तथा गुणों की ही क्रमबद्ध मीमांसा नहीं है, बल्कि काव्य के अन्तरंग साधनों को खोज निकालने का सफल प्रयत्न है। आलंकारिक गुण दोषों का विवेचन कर ही अपने को कृतकृत्य नहीं समझता, प्रत्युत वह काव्य की आत्मा का समीक्षण भी अपनी दृष्टि से भली-भाँति करता है। इस प्रकार यह साहित्य पश्चिमी देश के आलोचना साहित्य से किसी प्रकार घट कर नहीं है। आलंकारिकों ने काव्य के मूल सिद्धान्तों के प्रतिपादन करने में तथा गुण-दोषों के विवेचन करने में बड़ी ही सूक्ष्म विवेचक शक्ति का परिचय दिया है। काव्य के नवीन मार्ग निर्धारण करने के निमित्त इस अलंकार साहित्य का अनुशीलन तथा विवेचन नितान्त आवश्यक है।

उद्देश्य

अलंकार शास्त्र का उद्देश्य केवल उपमा रूपक आदि काव्य के

शोभाधायक अलंकारों का विवेचन मात्र ही नहीं है प्रत्युत काव्य में सौन्दर्य का सुचारु रूप से अध्ययन करना है। संस्कृत में अलंकार शब्द के दो अर्थ हैं—एक तो अनुप्रास, दीपक आदि प्रसिद्ध अलंकार दूसरा सौन्दर्य। "सौन्दर्यमलंकारः" (वामन) सौन्दर्य के इस व्यापक अर्थ में इस शब्द का प्रयोग 'अलंकार शास्त्र' के नाम में किया गया है। आरम्भिक काल में अलंकार नाट्य का ही अंग था। नाट्य के विविध उपकरणों के अध्ययन के अवसर पर 'नाट्यशास्त्र' के लेखक भरत मुनि ने अलंकार के मूल सिद्धान्तों का भी वर्णन किया है। नाट्य शास्त्र तो बहुत पुराना है। महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी में शिलालि और कृशाश्व नामक आचार्यों के द्वारा लिखित नटसूत्रों का उल्लेख किया है। ये सूत्र उपलब्ध नहीं होते। जो नाट्यग्रन्थ आजकल उपलब्ध होता है वह भरतमुनि की रचना है। इसमें नाटक के स्वरूप, अभिनय, रस तथा अन्य उपकरणों का वर्णन तो प्रधान लक्ष्य है, परन्तु इसके अतिरिक्त यह संगीतशास्त्र का भी सर्वप्राचीन माननीय ग्रन्थ है। अवान्तर रूप से अलंकार शास्त्र के मूल सिद्धान्तों का भी इसमें वर्णन है। इसके निर्माण में अनेक शताब्दियों का प्रयत्न जागरूक है। इसका निर्माण ईस्वी पूर्व द्वितीय शतक से लेकर ईस्वी पश्चात् द्वितीय शतक तक होता रहा है।

अलंकार शास्त्र के सम्प्रदाय

भरत के बाद अलंकार शास्त्र ने नाट्य शास्त्र के पारतन्त्र्य से अपने आपको उन्मुक्त कर स्वतन्त्र शास्त्र का रूप धारण कर लिया। इसमें नये-नये सम्प्रदाय कालान्तर में उठ खड़े हुए। मीमांसा का प्रधान विषय था—काव्य की आत्मा का निर्धारण। (१) कुछ लोग काव्य में अलंकार का ही प्राधान्य स्वीकार करने लगे। उनकी

सम्मति में अग्नि को दाहिका शक्ति से विरहित मानने की कल्पना के समान काव्य को अलंकारहीन मानना नितान्त उपहास्यास्पद है। इसका नाम हुआ—*अलंकार सम्प्रदाय*। (२) कुछ विद्वान् लोग रीति को ही काव्य की आत्मा मानने लगे। "रीतिरात्मा काव्यस्य"। उनके विचार में काव्य में गुणों की सत्ता मानना नितान्त आवश्यक है। गुणों की संख्या दस मानी गई है—श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारत्व, ओज, कान्ति तथा समाधि। इन दस गुणों का अस्तित्व जिस काव्य में रहता है उसमें सर्वगुणसम्पन्न वैदर्भी रीति रहती है। गौड़ी और पाञ्चाली रीतियों में इन गुणों में से केवल पाँच-ॐ गुणों का ही रहना आवश्यक माना जाता है। इस प्रकार रीति का नियम गुणों के ऊपर रहता है। इसीलिए यह *रीति* या *गुण सम्प्रदाय* के नाम से अभिहित किया गया है। (३) कुन्तक नामक आलंकारिक 'वक्रोक्ति' को ही काव्य का जीवन मानते हैं। यह वक्रोक्ति अलंकार नहीं है, प्रत्युत विदग्धभङ्गीभणिति है—अर्थात् सर्वसाधारण के कथन प्रकार से विभिन्न, विचित्र कहने का ढंग। इनकी समीक्षा बड़ी व्यापक तथा उपादेय है। ध्वनि-मार्गावलम्बियों की समीक्षा इन्हें मान्य है, परन्तु अन्तर इतना है कि ध्वनि के समग्र प्रकार वक्रोक्ति के ही प्रकार स्वीकृत किये गये हैं। (४) अन्य आलंकारिक ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। वह काव्य, जिसमें वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य की प्रधानता हो, ध्वनि कहलाता है। इस प्रतीयमान अर्थ के काव्य में मुख्य चमत्कारी होने के कारण यह सम्प्रदाय *ध्वनि सम्प्रदाय* के नाम से अभिहित किया जाता है। (५) *औचित्य सम्प्रदाय*—इसके अनुसार काव्य में औचित्य का विचार ही प्रधान वस्तु है। जो वस्तु रस, गुण तथा सन्दर्भ के अनुकूल हो उसे काव्य में स्थान देना चाहिए। 'औचित्योपनिबन्धस्तु साहित्योपनिषत्

परा'। साहित्य का यही रहस्य है—उचित वस्तु का उपनिबन्धन। क्षेमेन्द्र इस सम्प्रदाय के प्रधान आलंकारिक हैं। अलंकार शास्त्र में अन्य भी अनेक सम्प्रदाय हैं परन्तु व्यापकता की दृष्टि से उपर्युक्त पाँच सम्प्रदाय ही मुख्य माने जाते हैं। ध्वनि-सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या बहुत ही अधिक है। आजकल यही हमारा मान्य साहित्य-सिद्धान्त है।

आलंकारिक आचार्य

अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों में '*भामह*' तथा '*उद्भट*' का नाम मुख्य है। भामह के न तो जन्मस्थान का पता चलता है, न व्यक्तित्व का। उनका समय पञ्चम शतक प्रतीत होता है। उन्होंने अपना सिद्धान्त 'काव्यालंकार' नामक ग्रन्थ में प्रकट किया है। यह ग्रन्थ अलंकार शास्त्र का आदिम ग्रन्थ होने पर भी नितान्त मौलिक तथा माननीय है। उद्भट (अष्टम शतक) भामह के टीकाकार हैं। परन्तु दुःख है कि 'भामह विवरण' नामक यह टीका कहीं अभी तक उपलब्ध नहीं हुई। उनकी मौलिक रचना 'काव्यालंकार सारसंग्रह' है जिसमें अलंकारों का ही विशेष रूप से वर्णन है। ये काश्मीर के नरेश जयापीड के सभा-पण्डित थे जिनका एक दिन का वेतन, कल्हण के कथनानुसार, एक करोड़ दीनार था। उद्भट के अलंकार विषयक सिद्धान्त नितान्त मौलिक हैं।

रीति सम्प्रदाय के आचार्य हैं—*दण्डी* (सप्तम शतक) और *वामन* (अष्टम शतक)। दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में काव्य के समस्त अंगों का विस्तार के साथ वर्णन किया है। इन्होंने पहले पहल वैदर्भी और गौडी रीति की विशिष्टता को बड़े ही विस्तार के साथ समझाया; अलंकारों का विस्तृत विवेचन किया तथा काव्य दोषों का साङ्गोपाङ्ग समीक्षण किया। वामन रीतिसम्प्रदाय

के सबसे उद्भट तथा प्रौढ़ व्याख्याता हैं। इनका स्पष्ट कथन है कि रीति ही काव्य की आत्मा है। इनके ग्रन्थ का नाम है–'काव्यालंकार सूत्र' जिसमें काव्य के सिद्धान्त सूत्ररूप से लिखे गये हैं। इन्होंने अपनी व्याख्या इस पर लिखी है। ये उद्भट के साथ ही जयापीड़ के सभा को सुशोभित करते थे। वक्रोक्ति सम्प्रदाय के केवल एक लेखक है जिनका नाम कुन्तक है। ये भी काश्मीर के निवासी थे और दशम शताब्दी में विद्यमान थे। इनकी एक ही रचना 'वक्रोक्तिजीवित' है परन्तु वह भी अधूरी मिली है। इनकी आलोचनाशक्ति बड़ी पैनी, गूढ़ तथा मर्मस्पर्शिनी है।

ध्वनिमार्ग के आचार्य

ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्यों में आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ मुख्य हैं। आनन्द-वर्धन (९ श०) जैसा मौलिक आलोचक संस्कृत साहित्य में दूसरा नहीं हुआ। ध्वनि की विवेचना करने में इन्होंने जिस सूक्ष्म बुद्धि का परिचय दिया है वह साहित्य जगत् में अलौकिक वस्तु है। इनके युगान्तरकारी ग्रन्थ का नाम है 'ध्वन्यालोक'। इनके टीकाकार तथा ध्वनि के सिद्धान्त को विरोधियों के तर्कों का खण्डन कर व्यवस्थित रूप देने वाले हैं आचार्य 'अभिनवगुप्त' (११ श०)। ये प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय के बड़े भारी शैव आचार्य थे। इस प्रसंग में इनका 'तन्त्रालोक' तन्त्र के सिद्धान्तों का अलौकिक विश्वकोष है। साहित्य जगत् में इनकी प्रधान रचनायें हैं—(१) भरत-नाट्य शास्त्र की की टीका 'अभिनवभारती', तथा (२) ध्वन्यालोक का व्याख्यान 'लोचन'। इन दोनों ग्रन्थों में इनका प्रतिपादित सिद्धान्त मनो-विज्ञान की सुदृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठित है। इन्हीं का रस-सिद्धान्त आज हमारे साहित्य शास्त्र का माननीय सिद्धान्त है। मम्मट

(एकादश शतक)—ये काश्मीर देश के निवासी थे। इनका 'काव्यप्रकाश' काव्य के सिद्धान्तों को सचमुच प्रकाश में लाता है। ये बड़े प्रौढ़ आलंकारिक माने जाते हैं और इनका ग्रन्थ अलंकार शास्त्र में प्रमुख स्थान रखता है। *विश्वनाथ कविराज* (१३ शताब्दी) का 'साहित्य दर्पण' साहित्य सिद्धान्त का सबसे लोकप्रिय ग्रन्थ है जिसके सहारे सैकड़ों विद्यार्थी साहित्य के रहस्यों के जानने में समर्थ होते हैं। ये उत्कल के रहने वाले थे। 'महापात्र' इनकी उपाधि थी। ये वहाँ के राजा के सान्धिविग्रहिक मंत्री थे। इनके ग्रन्थ में अलंकार के साथ नाट्य का भी पूरा वर्णन है। इनमें पाण्डित्य की अपेक्षा कवित्व अधिक था। पण्डितराज जगन्नाथ (१७ शताब्दी)—का रसगंगाधर पाण्डित्य की दृष्टि से चमत्कारिक रचना है। इनमें कवित्व तथा पाण्डित्य का अनुपम सम्मिलन दीख पड़ता है। सिद्धान्तों के प्रतिपादन में जितनी प्रौढ़ता है स्वरचित उदाहरणों में उतना ही कवित्व है। अधूरा होने पर भी यह ग्रन्थ साहित्य के मर्मज्ञों के गले का हार है।

औचित्य सम्प्रदाय के प्रधान महारथी हैं—क्षेमेन्द्र। इन्होंने 'औचित्यविचारचर्चा' लिखकर औचित्य के सिद्धान्त की व्यापक रूप से मीमांसा की है। यह ग्रन्थ इनकी सूक्ष्म शैली का परम परिचायक है। इन ग्रन्थकारों ने जिस साहित्य सिद्धान्त की उद्भावना की है उसी का अनुसरण करना हमारे लिये सर्वथा उचित है। यही हमारे साहित्य को प्रकृति के अनुकूल है। पाश्चात्य देश के अधकचरे सिद्धान्तों का अनुगमन करना कथमपि श्लाघनीय नहीं हो सकता।

———

दशम परिच्छेद

पुरुषार्थ साहित्य

पुरुष के प्रधानतया चार लक्ष्य हैं—धर्म, अर्थ काम और मोक्ष। मनुष्य की प्रत्येक प्रवृत्ति इन्हीं पर अवलम्बित रहती है। सबका समन्वय मानवजीवन की चरितार्थता के लिये सर्वथा वांछनीय है। हमारे ऋषियों ने मनुष्य की चतुरस्र उन्नति के लिए इन सबके सम्पादन की बड़ी सुन्दर व्यवस्था की है और इनको प्राप्ति के लिये विशाल साहित्य की सृष्टि की है। हमारे पूर्वजों का ध्यान पारलौकिक सुख की प्राप्ति की ओर जितना था, उतना ही इस लोक में कल्याण की प्राप्ति की ओर भी था। वे ठोस व्यवहार की महत्ता खूब समझते थे, साथ ही साथ विषयसुख से लोगों को हटाकर सच्चे सुख की ओर ले जाना भी उनका परम लक्ष्य था। इस प्रकार स्वार्थ के साथ परमार्थ का सम्पादन-ऐहिक सुख के साथ पारलौकिक कल्याण का अनुष्ठान-वैदिक धर्म का सदा से उद्देश्य रहा है और वह आज भी है। इसीलिए जहाँ पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति के लिए मोक्षशास्त्र का निर्माण किया गया, वहाँ भौतिक सुख पाने के निमित्त अर्थशास्त्र और कामशास्त्र के सिद्धान्तों का विवरण दिया गया।

आजकल अर्थ-शास्त्र (एकनामिक्स) तथा राजनीति शास्त्र (पालिटिक्स) का बोलबाला है, परन्तु इन्हें पाश्चात्य साहित्य की देन समझना भयंकर भूल है। इन शास्त्रों का अध्ययन हमारे यहाँ बहुत ही प्राचीन काल से—कम से कम २५ सौ वर्षों से—चला आता है। इन दोनों नवीन समझे जाने वाले शास्त्रों का संस्कृत में विराट् साहित्य लिखा गया था जिसके उपादेय ग्रन्थ धीरे धीरे प्रकाशित

हो रहे हैं। कामशास्त्र की उन्नति पाश्चात्य साहित्य में तो कल की घटना है। अश्लील समझकर पश्चिमी विद्वानों ने इसे अपने अध्ययन का कभी विषय नहीं बनाया। अभी हाल में डा० हेवलाक एलिस आदि माननीय वैज्ञानिक पण्डितों के उद्योग से इस शास्त्रपर से कलंक का टीका मिटा है। परन्तु हमारे ऋषियों की दृष्टि इस आवश्यक विषय की ओर प्राचीनकाल में ही आकृष्ट हुई थी। वे मानव-समाज के लिये इसके महत्त्व को भलीभाँति पहचानते थे। तभी तो महर्षि वात्स्यायन ने अपना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'कामसूत्र' का निर्माण गृहस्थों के कल्याण के लिए लिखा। धर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र (दर्शनशास्त्र) तो संस्कृतसाहित्य का गौरवपूर्ण अंश माना ही जाता है। भारतीय सभ्यता की प्रसिद्धि सदा इसके अध्यात्मशास्त्र के लिए रही है। इस प्रकार मानव के चारों पुरुषार्थों के समान अनुशीलन के लिए संस्कृत में इस विराट् साहित्य का उदय और अभ्युदय सम्पन्न हुआ जो अन्यसाहित्य के इतिहास में नितान्त दुर्लभ है।

(१) धर्मशास्त्र

इस शास्त्र का उदय वैदिककाल में ही हुआ। वेदांग के अन्तर्गत कल्पसूत्रों में धर्मसूत्रों का विशिष्ट स्थान है। वेद की शाखा से सम्बद्ध अनेक धर्मसूत्रों का प्रणयन ईस्वी सन् से पूर्व पंचम और षष्ठ शताब्दियों में किया गया। सूत्ररूप में इनकी रचना है। आगे चलकर इन्हीं के आधार पर श्लोकबद्ध स्मृतियाँ बनाई गईं। स्मृतियों की संख्या बहुत अधिक है—लगभग पचास के। जैसे वसिष्ठ स्मृति, कात्यायन स्मति, नारद स्मृति, शंख स्मृति, लिखित स्मृति आदि आदि। मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति तो स्मृति-साहित्य के सर्वस्व हैं। आजकल हमारे वर्णाश्रम धर्म के नियामक

भगवान् मनु ही हैं। मनु की व्यवस्था नितरां वैज्ञानिक है। याज्ञवल्क्य स्मृति उसी की पोषक है। स्मृतियों के तीन विषय हैं– आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त। आचारखण्ड में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी के आचारों का विस्तृत वर्णन है। व्यवहारखण्ड में राजधर्मों के साथ मुकद्मों के देखने, गवाही लेने, निर्णय करने की प्रक्रियाओं का सांगोपांग विवरण दिया गया है। प्रायश्चित खण्ड में जान या अनजान में किये गये पापों तथा पातकों के निवारण के लिए नाना प्रकार के प्रायश्चित्तों की व्यवस्था है। इन तीनों विषयों का प्रत्येक स्मृति ग्रन्थ में रहने का कोई नियम नहीं है। भिन्न भिन्न ग्रन्थों में इनमें से किसी एक ही विषय की प्रधानता लक्षित होती है।

मनुस्मृति

धर्मशास्त्र के कर्ताओं में मनु की ख्याति सबसे अधिक है। मनु की व्यवस्था हमारे धर्म तथा समाज के लिए मान्य व्यवस्था है। प्रसिद्धि है कि मनु का कथन दवा की भी दवा है। 'यद् मनुरवदत् तत् भैषजं भेषजतायाः।' यह कथन वास्तव में सत्य है। मनुस्मृति भारत के ही लिए आचार-दर्शक ग्रन्थरत्न नहीं है, अपितु मानवमात्र के लिये है। हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था मनु के नियमों के आधार पर भारतवर्ष में ही नहीं है प्रत्युत उपनिवेशों में भी हिन्दुओं ने मनु को ही अपने समाज तथा व्यक्ति के नियमों के लिए पथप्रदर्शक माना है। आज भी श्याम, कम्बोज, जावा, बाली आदि पूर्वी देशों की सामाजिक व्यवस्था के मूल में मनुस्मृति के ही नियम क्रियाशील हैं। मनुस्मृति में बारह अध्याय है जिनमें चारों आश्रमों का तथा राजा प्रजा के धर्म का विशद वर्णन है। मनुस्मृति पर अनेक विद्वानों ने समय समय पर टीकायें

लिखीं। इनमें 'मेधातिथि' का भाष्य तथा 'कुल्लूकभट्ट' की व्याख्या खूब प्रसिद्ध है। मेधातिथि का भाष्य पाण्डित्य तथा प्रामाणिकता में आदर्शभूत माना जाता है। कुल्लूकभट्ट की टीका मनु के अर्थ में समझने में नितान्त उपयोगी है।

याज्ञवल्क्य स्मृति

मनु के अनन्तर याज्ञवल्क्य का नाम स्मृति के इतिहास में नितान्त प्रसिद्ध है। उनकी स्मृति में आचार, व्यवहार, तथा प्रायश्चित्त का साङ्गोपाङ्ग विवेचन है। इसकी सबसे प्रसिद्ध टीका है—मिताक्षरा, जिसे विज्ञानेश्वर ने ११ वी शताब्दी में दक्षिणभारत में लिखा। ये विज्ञानेश्वर चालुक्य नरेश विक्रमादित्य षष्ठ के दरबार में पण्डित थे—उसी दरबार में, जिसे विल्हण ने भी सुशोभित किया था। मिताक्षरा बड़ी ही प्रामाणिक टीका मानी जाती है। आजकल हिन्दुओं में दायभाग के विषय में दो प्रकार के मत हैं—बंगाल में दायभाग की व्यवस्था जीमूतवाहन नामक स्मृतिकार के ग्रन्थ के अनुसार होती है। बंगाल को छोड़कर समग्र उत्तरी भारत में मिताक्षरा के अनुसार ही दायभाग का नियम माना जाता है। कलियुग के लिये महर्षि पाराशर रचित स्मृति प्रामाणिक बतलाई जाती है। इसके ऊपर वेदभाष्यकार सायणाचार्य के जेठे भाई माधवाचार्य ने बड़ा ही बृहद् तथा प्रामाणिक भाष्य लिखा है जो 'पाराशरमाधव' के नाम से विख्यात है। इसकी रचना चतुर्दश शतक में दक्षिणभारत में की गई।

(२) अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र के भीतर कृषि, वाणिज्य, व्यापार आदि के अतिरिक्त राजनीति शास्त्र भी माना जाता है। इस विषय में कौटिल्य अर्थशास्त्र

बहुत ही प्रामाणिक तथा प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। यह वही ग्रन्थ है जिसे चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमंत्री चाणक्य ने राज्य व्यवस्था के निमित्त लिखा था। यह ग्रन्थ हाल में ही उपलब्ध हुआ है। इसने उन पश्चिमी विद्वानों की आँखें खोल दी हैं जो भारतीयों को राजनीति विद्या में नितान्त असमर्थ मानते आते थे। आज से २२ सौ वर्ष पहले भारतवर्ष में राज्य की व्यवस्था, परस्पर लेनदेन व्यापार और वाणिज्य, आदि आवश्यक बातों का अनुष्ठान किस प्रकार किया जाता था इसका पूरा परिचय हमें इस ग्रन्थ में मिलता है। *शुक्रनीति* की रचना कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनेक शताब्दियों के पीछे हुई। इसमें भी राजशासन के नियमों का पूरा पूरा विवरण दिया गया है। प्राचीन राज्य व्यवस्था के जानने के लिये इस ग्रन्थ में बहुत ही आवश्यक सामग्री प्रस्तुत की गई है। *कामन्दकनीतिसार* गुप्तकाल की रचना प्रतीत होता है। इसमें कौटिल्य के अर्थ शास्त्र का सारांश ही कुछ घटा बढ़ाकर किया गया है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त *मित्रमिश्र* के 'राजनीतिप्रकाश' तथा चण्डेश्वर विरचित 'राजनीति रत्नाकर' में राजनीति के सिद्धान्तों पर विशेष प्रकाश डाला गया है। मित्रमिश्र मध्यभारत के राजा वीरसिंहदेव के दरबार में रहते थे और मिथिला के किसी राजा के दरबार के पण्डित थे। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इस विषय के अनेक ग्रन्थ हैं। परन्तु इस सब ग्रन्थों से प्राचीन है महाभारत का शान्तिपर्व जिसमें राजधर्म, प्रजाधर्म का बहुत ही विस्तृत तथा प्रामाणिक वर्णन भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर के प्रश्नों के उत्तर में किया है।

(३) कामशास्त्र

हमारे प्राचीन ऋषियों का ध्यान भौतिकजीवन को सुखमय बनानेवाले इस आवश्यक विषय की ओर बहुत पहले से ही आकृष्ट

हुआ था। जो विषय मानवजीवन को आनन्दमय बनाने का प्रधान साधन है वह जगत् के कल्याण साधकों के हाथ क्या कभी उपेक्षा का पात्र हो सकता है? कामशास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाला विशाल-साहित्य संस्कृत में विद्यमान है। परन्तु इसका बहुत ही कम अंश अभी तक प्रकाशित हो पाया है। सबसे प्राचीन ग्रन्थ महर्षि वात्स्यायन रचित कामशास्त्र है। समग्र ग्रन्थ सूत्ररूप में लिखा गया है जिसके उपर शंकरार्य विरचित 'जयमंगला' नामक टीका बड़ी ही उपादेय है। इस ग्रन्थ में गार्हस्थ्यजीवन को सुखमय बनानेवाले समग्र आवश्यक उपकरणों का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया गया हे। घर की बनावट किस प्रकार होनी चाहिये? उसके सामने किस प्रकार का बागीचा लगाना चाहिये। मकान की कितनी खिड़किया किधर रहनी चाहिये? कौन कौन से 'समाज' तथा 'यात्रायें' मनानी चाहिये? इनका विवरण इस ग्रन्थ में सुन्दर रीति से किया गया है। इसके अनन्तर स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का भी पूरा विचार है। कामशास्त्र का विषय आजकल की पश्चिमी पुस्तकों की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक, उपादेय तथा ग्राह्य है। इस ग्रन्थ के अनुशीलन से तत्कालीन भारत की सामाजिक अवस्था का, विशेषकर उस समय के रईसों (नागरक) की दिनचर्या का, पूरा चित्रण हमारे आँखों के सामने खिंच जाता है। इस ग्रन्थ की रचना गुप्तकाल में प्रतीत होती है।

कामशास्त्र के ऊपर वात्स्यायन के बाद बहुत से ग्रन्थ लिखे गये। परन्तु इन ग्रन्थकारों के हाथ इस विषय की उपयोगिता की रक्षा न हो सकी। इन लोगों ने विशुद्ध कामसम्बन्धी विषयों की ओर ज्यादा ध्यान दिया और उन आवश्यक उपकरणों को भूल से गये जिनके कारण जीवन में सौन्दर्य तथा माधुर्य का संचार होता है। इसीलिये इन ग्रन्थों में संकीर्णता आ गई है। काम-

सूत्रों के समान व्यापकता का इनमें अभाव है। ऐसे ग्रन्थों में कुछ नाम ये हैं—पञ्चसायक, अनंगरंग आदि। क्षेमेन्द्र ने 'कलाविलास' नामक काव्य में तथा दामोदर गुप्त ने 'कुट्टिनीमत' में धूर्तों तथा वेश्यायों के प्रपञ्च से बचने के लिये साधारण जनों के निमित्त बड़ा ही सुन्दर उपदेश दिया है।

वैज्ञानिक साहित्य

संस्कृत वाङ्मय के दो प्रधान विभेद हैं—काव्य और शास्त्र। पूर्व अध्याय तक वर्णित साहित्य काव्य के अन्तर्गत आता है। शास्त्र-सम्बन्धी साहित्य का वर्णन इस समय अपेक्षित है। विज्ञान की उन्नति प्राचीन भारत में पर्याप्त मात्रा में थी। यह अनुभव तथा प्रयोग के ऊपर अवलम्बित था। अंक गणित, बीज गणित, रेखा गणित, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, संगीत शास्त्र आदि अनेक शास्त्रों की उन्नति प्रयोग के सहारे प्राचीन काल में खूब हुई थी। तद्विषयक ग्रन्थों का निर्माण भी खूब हुआ, परन्तु कालान्तर में पण्डितों की दृष्टि इन शास्त्रों के अनुशीलन से हट गयी। फलतः इन शास्त्रों की जितनी उन्नति होनी चाहिए थी, उतनी नहीं हुई। पाश्चात्य देशों में विज्ञान की इधर खूब उन्नति हुई है। उससे समता करने पर यह साहित्य स्वल्प अवश्य प्रतीत होता है,

भारतीय विज्ञान की खोज बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यह खोज उस समय की गई जब पश्चिमी जगत में इसकी कल्पना भी न थी। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। ग्रीसदेश के एक बड़े दार्शनिक गणितज्ञ थे—पाइथेगोरस। रेखागणित के एक विशेष सिद्धान्त निकालने का श्रेय इन्हें दिया जाता है। वह सिद्धान्त यह है कि यदि समकोण त्रिभुज के सामने वाले बाहु पर जो वर्ग-क्षेत्र खींचा जायगा, वह अन्य दो भुजाओं के ऊपर खींचे गये

वर्गक्षेत्रों के योग के बराबर होगा। परन्तु बौधायन शुल्व सूत्र (१।४८) में इस सिद्धान्त का निरूपण इस ग्रीक गणितज्ञ से लगभग दो सौ वर्ष पहिले ही किया जा चुका है। बीजगणित में आविष्कृत अनेक नई बातें हमारे लिए प्राचीन हैं। भौतिक विज्ञान की विशिष्ट बातें न्याय वैशेषिक दर्शन की पुस्तकों में भलीभाँति दी गई हैं। रसायनशास्त्र के तथ्य आयुर्वेद के रसविषयक ग्रन्थों में प्रचुरता से मिलते हैं। इन सब का भारत के विख्यात रसायन शास्त्री डा० पी० सी० राय ने अपने 'हिस्ट्री आफ इंडियन केमेस्ट्री' (भारतीय रसायन शास्त्र का इतिहास) में प्रमाणपुरःसर निरूपण किया है। आयुर्वेद भी भारत के लिए गौरव की वस्तु है। आयुर्वेद में त्रिदोष (वात, पित्त कफ) का सिद्धान्त इतना वैज्ञानिक है कि इसी के आधार पर हमारे वैद्यकशास्त्र की बड़ी इमारत खड़ी हुई है। पाश्चात्य वैद्यकशास्त्र नित्य नई उन्नति कर रहा है परन्तु यह सब उन्नति शल्य-चिकित्सा (सर्जरी) से अधिक सम्बन्ध रखती है। शल्य-चिकित्सा तथा उसके लिए जरूरी औजारों का विस्तृत वर्णन सुश्रुत ने अपने ग्रन्थ में किया है। चिकित्सा के विषय में भारत बढ़कर है। आजकल होमिओपेथिक चिकित्सा की उपयोगिता तथा लोकप्रियता बढ़ रही है, परन्तु इसके मूल तथ्य भी वैद्यक के सिद्धान्तों पर अवलम्बित हैं। वैद्यकशास्त्र के लिए यदि नवीन विज्ञान के प्रयोग किये जायँ, तो उसकी विशेष उन्नति तथा सुधारणा होने की आशा है। संगीतशास्त्र की सूक्ष्म प्रक्रिया में लय-ताल की व्यवस्था, स्वर तथा उनका आरोह-अवरोह (मूर्छना) ग्राम, आदि बातें हमारे पूर्वजों की सूक्ष्म गवेषणाशक्ति का परिचय देती हैं। संगीत का शास्त्रीय तथा व्यावहारिक रूप बड़ा ही मार्मिक है तथा शताब्दियों के प्रयोग तथा

अनुशीलन का परिचय देता है। कतिपय विज्ञानों का ही वर्णन यहाँ किया जायगा।

ज्यौतिष

ज्यौतिष के अनेक सिद्धान्त वेद की संहिताओं में उपलब्ध होते हैं। वेदाङ्ग ज्यौतिष का वर्णन पिछले परिच्छेद में किया जा चुका है। भारतीय ज्यौतिष के प्राचीनतम ग्रन्थों में हमें गर्गसंहिता, सूर्यप्रज्ञप्ति तथा सूर्य सिद्धान्त के नाम मिलते हैं। पर सूर्यप्रज्ञप्ति की छोड़कर अन्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। हमारे माननीय ज्यौतिषियों में आर्यभट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त तथा भास्कराचार्य का नाम उल्लेखनीय है। आर्यभट (जन्म ४७६ ई०) पटना-निवासी विख्यात ज्यौतिषी थे जिनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'आर्यभटीय' है। वराहमिहिर (५०५-५८७ ई०) उज्जैन के रहनेवाले थे। इनका विख्यात ग्रन्थ है 'पञ्च सिद्धान्तिका'। ब्रह्मगुप्त का समय सातवीं सदी का मध्यभाग है। भास्कराचार्य (१११४ ई०) का नाम ज्यौतिष के इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगा। इनके लिखे हुये ज्यौतिष और गणित के अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। उनमें 'सिद्धान्त शिरोमणि' की प्रतिष्ठा बहुत अधिक है। उनकी 'लीलावती' क्षेत्रमिति के विषय में विख्यात ग्रन्थ है। भारतीय ज्यौतिष का प्रभाव फारस तथा अरब के विद्वानों पर खूब पड़ा। खलीफा हारूँ रसीद ने भारतीय ज्यौतिषों को अपने दरबार में बुलाया और उनके ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद कराया।

वैद्यक

वैद्यक का अध्ययन बहुत प्राचीन काल से चला आता है। आयुर्वेद ऋग्वेद का उपवेद माना जाता है। अथर्ववेद से आयुर्वेद सम्बन्धी बहुत सी बातों—रोगों के नाम, लक्षण, शरीरविद्या, गर्भ-विद्या आदि—का पता चलता है। बुद्ध के समय में 'जीवक' नाम के विख्यात वैद्य की कीर्ति तथा चमत्कार का वर्णन मिलता है। हमारी चिकित्सापद्धति का प्रभाव यूनान के और यूरोप के वैद्यों पर खूब पड़ा जिन्होंने अनेक भारतीय औषधों का प्रयोग अपने देश में चलाया। इस विद्या के प्रधान आचार्य हैं—चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट। महर्षि चरक की संहिता सबसे प्राचीन तथा उपादेय है। ये महाराज कनिष्क के वैद्य बतलाये जाते हैं। इनका ग्रन्थ वैद्यविद्या के ज्ञान का भण्डार है। चिकित्सा पद्धति इनको सर्वोत्तम बतलाई जाती है। सुश्रुत की संहिता शल्य-चिकित्सा (सरजरी) के लिये नितान्त विख्यात है। चरक और सुश्रुत दोनों की कीर्ति भारतवर्ष में ही सीमित नहीं है प्रत्युत पूरब में कम्बोज और पश्चिम में अरब तक फैली है। वाग्भट सुश्रुत के पीछे के हैं। इनकी 'अष्टाङ्ग हृदय संहिता' वैद्यकशास्त्र का विख्यात ग्रन्थ है। वैद्यकशास्त्र के ये ही त्रिमुनि हैं। पर इसका साहित्य बड़ा विशाल है। वैद्यकविद्या प्रयोग और अनुभव के ऊपर अवलम्बित है और इसीलिये आज भी उसकी महत्ता है।

एकादश परिच्छेद

मोक्ष शास्त्र

मोक्ष शास्त्र से अभिप्राय उन ग्रन्थों से है जो इस जगत् के दुःख को दूर कर वास्तव सुख और शान्ति देने के मार्ग का निरूपण करते हैं। साधारणतया इसे 'दर्शन शास्त्र' के नाम से पुकारते हैं। दर्शन शब्द का व्युपत्तिलब्ध अर्थ है—दृश्यते अनेन इति दर्शनम् अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाय। जीव, जगत्, जीवन-मरण, ब्रह्म आदि महत्त्वपूर्ण विषयों के स्वरूप का दर्शन जिससे हमें हो, उसे 'दर्शन' कहते हैं। भारतीय संस्कृति में धर्म और दर्शन का परस्पर सम्बन्ध बहुत ही गहरा है। दर्शन का उदय मानव समाज के परम कल्याण के लिये है। यह समाज तीन प्रकार के तापों से संतप्त होकर निरन्तर दुःख भोग रहा है और आनन्द की प्राप्ति के लिये इधर से उधर भटकता फिरता है। इस सुखमय मार्ग को बतलाना दर्शन शास्त्र का लक्ष्य है। दर्शन शास्त्र के द्वारा सुचिन्तित सिद्धान्तों के ऊपर ही भारतीय धर्म की दृढ़ प्रतिष्ठा है। जैसा विचार, वैसा आचार। विचार के आधार पर ही आचार की भित्ति खड़ी होती है। विचार का निरूपण दर्शन शास्त्र का काम है और आचार का वर्णन धर्म का लक्ष्य है। धार्मिक आचार के द्वारा कार्यान्वित हुए बिना दर्शन की स्थिति निष्फल है और दार्शनिक विचार के द्वारा परिपुष्ट हुए बिना धर्म की सत्ता निराधार है। दोनों का ठीक मिलाप जितना इस भारतवर्ष में दृष्टिगोचर होता है उतना किसी अन्य देश में नहीं। ग्रीस देश के बड़े दार्शनिक "अफलातून" का इतना ही कहना है कि दर्शन का उद्गम आश्चर्य से होता है। पश्चिम में आश्चर्यजनक तथा कौतुकमय घटना की व्याख्या से विचार

शास्त्र का उदय हुआ। परन्तु भारतवर्ष में दर्शन का उपयोग अधिक व्यापक तथा प्रभावशाली है। यहाँ दुःख की व्याख्या तथा उसे दूर करने के लिये साधन मार्ग की विवेचना करने से दर्शन का उदय हुआ। दर्शन का यही कथन है कि अज्ञान से प्राणी नाना प्रकार के क्लेशों का अनुभव करता है। इनसे छुटकारा (मोक्ष) पाने का केवल एक ही उपाय है—ज्ञान। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'। इसी ज्ञान के मार्ग दिखलाने में दर्शनों की उपयोगिता है। अतः भारतवर्ष में दर्शन शास्त्र का नितान्त व्यावहारिक उपयोग है और वह वैदिकधर्म का प्रधान पृष्ठपोषक है—एक शब्द में दोनों में घनिष्ठ सामञ्जस्य है।

वैदिक दर्शन

दर्शन का उदय वैदिक काल में ही हो चुका था। ऋग्वेद के अत्यन्त प्राचीन युग से ही हमें दो प्रकार की प्रवृत्तियों का पता चलता है। पहली प्रवृत्ति 'प्रज्ञामूलक' थी। वह प्रज्ञा या प्रतिभा के बल पर तत्त्वों के विवेचन करने में कृतकार्य थी। दूसरी प्रवृत्ति 'तर्कमूलक' थी जो तत्त्वों के निरीक्षण के लिये तार्किक बुद्धि का उपयोग करती थी। इसकी सूचना हमें ऋग्वेद में पर्याप्त मात्रा में मिलती है। ऋग्वेद के एक ऋषि अपने प्रतिभा के बल पर कहते हैं कि उस समय एक ही वस्तु वायु के बिना ही अपने शक्ति से स्वाँस लेती थी (आनीदवातं स्वधया तदेकम्)। दूसरे महर्षि यह प्रोत्साहना दे रहे हैं कि आपस में मिलो; वस्तु का विवेचन करो और एक दूसरे के मन को जानो (संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्)। इन्हीं प्रवृत्तिओं के मिश्रण से पिछले समय में दर्शन की उत्पत्ति हुई।

नास्तिक दर्शन

दर्शन के दो प्रधान भेद हैं—(१) आस्तिक और (२) नास्तिक दर्शन। आस्तिक वह है जो वेद में श्रद्धा रखे और नास्तिक वह है जो वेद का निन्दक हो। 'नास्तिको वेदनिन्दकः'। वेद को प्रमाण न माननेवाले दर्शन 'नास्तिक' और वेद में श्रद्धा रखने वाले दर्शन 'आस्तिक' कहलाते हैं। नास्तिक दर्शन में तीन मुख्य हैं (१) *चार्वाक*—जिसके अनुसार शरीर ही आत्मा है, मरण ही मुक्ति है तथा इस जीवन में सुख भोगना ही स्वर्ग है। उनका यह सिद्धान्त रहा है कि जब तक जीए सुख से जीए। ऋण लेकर भी घी पीए क्योंकि शरीर के भस्म हो जाने के बाद ऋण चुकाने के लिये भला किसी को आना पड़ता है?—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृत पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

(२) *जैन दर्शन*—इसके अनुसार अहिंसा ही परम धर्म है। अहिंसा परमो धर्मः। इस मत में पदार्थों की संख्या ६ है—जीव, पुद्गल, आकाश, काल, धर्म तथा अधर्म। इनकी दार्शनिक दृष्टि अनेकान्तवाद की है अर्थात् सत्य के जानने के लिए अनेक दृष्टियाँ हैं। इन सब से देखने पर ही सत्य का वास्तव स्वरूप हमें ज्ञात हो सकता है।

(३) *बौद्ध दर्शन*—भगवान् बुद्ध के द्वारा प्रतिष्ठित धर्म 'बौद्ध' कहलाता है। उसका विशाल साहित्य है। बुद्ध ने अपने उपदेश उस समय की लोकभाषा पाली में दिया था। उनके मूल ग्रन्थ *त्रिपिटक* के नाम से विख्यात हैं। महायानधर्म में संस्कृत में ग्रन्थ लिखे गये। इस दर्शन के प्रधान चार सम्प्रदाय हैं—(१) वैभाषिक, (२) सौत्रान्तिक, (३) योगाचार और (४) माध्यमिक।

सत्ता के सिद्धान्त के विषय में भिन्न २ मत रखने के कारण इन चार सम्प्रदायों का उदय हुआ है। वैभाषिक लोगों के अनुसार जगत् के समस्त पदार्थ-चाहे वे बाहरी जगत् से सम्बन्ध रखते हों या भीतरी जगह से सम्बद्ध हों—सब सच्चे हैं। और इस बात का पता प्रत्यक्ष के द्वारा लगता है। इसका दूसरा नाम है 'सर्वास्तिवाद'। सौत्रान्तिक मत भी वाहरी पदार्थों को सत्य मानता है। परन्तु प्रत्यक्ष रूप से नहीं बल्कि अनुमान के द्वारा। योगाचार का दूसरा नाम 'विज्ञानवाद' है क्योंकि वह विज्ञान अथवा चित्त को ही एकमात्र सत्य मानता है। माध्यमिक का दूसरा नाम है 'शून्यवाद' क्योंकि इस मत में जगत् के समस्त पदार्थ शून्यरूप हैं। इन चारों मतों के सिद्धान्तों को एकत्र जानने के लिये यह श्लोक बड़ा उपयोगी है :—

> मुख्यो *माध्यमिको* विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्
> *योगाचार* मते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
> अर्थोस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति *सौत्रान्तिकः*
> प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकलं *वैभाषिको* भाषते॥

बौद्ध साहित्य

इन संप्रदायों का बड़ा विशाल साहित्य है और वह संस्कृत में ही निबद्ध है। कुछ ग्रन्थ तो मूल संस्कृत में उपलब्ध हैं। परन्तु अधिकांश साहित्य संस्कृत में नष्ट हो गया है। उसका परिचय हमें चीन तथा तिब्बत की भाषाओं के किये गये अनुवादों से ही चलता है। वैभाषिक सिद्धान्तों का परिचय हमें वसुबन्धु के विख्यात ग्रन्थ 'अभिधर्म्मकोष' से चलता है। ये पेशावर के कौशिक गोत्री ब्राह्मण के पुत्र थे। प्रौढ़ावस्था में अयोध्या में ही रहते थे। पहले वे सर्वास्तिवादी थे परन्तु उनके ज्येष्ठ भ्राता असङ्ग के उपदेश

मिलने पर ये अन्त में विज्ञानवादी हो गये। इस विज्ञानवाद के प्रवर्तक आर्य मैत्रैय या मैत्रेयनाथ थे जिनके पाँच ग्रन्थों में 'अभिसमयालंकार' तथा 'मध्यान्त विभाग' मूल संस्कृत में प्रकाशित हो गये हैं। परन्तु विज्ञानवाद का प्रसार किया 'असङ्ग' तथा 'वसुबन्धु' ने। आचार्य वसुबन्धु तृतीय शतक के बड़े भारी प्रौढ़ तथा प्रसिद्ध दार्शनिक थे। इनके सबसे प्रसिद्ध शिष्य 'दिङ्नाग' थे जिनका 'प्रमाण समुच्चय' बौद्ध-न्याय की प्रतिष्ठा करने वाला नितान्त प्रौढ़ ग्रन्थ है। इसी संप्रदाय में सप्तम शताब्दी के प्रथमार्द्ध में 'धर्मकीर्ति' नामक विख्यात बौद्ध दार्शनिक हुए, जिनका 'प्रमाणवार्तिक' विज्ञानवाद के सिद्धान्त जानने के लिये सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

शून्यवादियों में आचार्य नागार्जुन (तृतीय शतक), आर्यदेव (तृतीय शतक), स्थविर बुद्धपालित (पञ्चम शतक), भावविवेक, चन्द्रकीर्ति (सप्तम शतक) तथा शान्तरक्षित (अष्टम शतक) आदि मुख्य हैं। ये आचार्य लोग बौद्ध दार्शनिक जगत् की बड़े विभूति हैं जिनके ग्रन्थ शून्यवाद के गूढ़ सिद्धान्तों को प्रतिपादन करने वाले हैं। महायानसंप्रदाय ही पिछलीं शताब्दियों में मंत्रशास्त्र के योग से मंत्र यान, वज्रयान तथा कालचक्र यान के रूप में विकसित हो गया। इन संप्रदायों में मन्त्र तथा तन्त्र की बहुलता है। इनका प्रचार तिब्बत तथा नैपाल में विशेष रूप से हुआ जहाँ वे आज भी विद्यमान हैं। इन संप्रदायों के आचार्यों के द्वारा लिखा गया महत्त्वपूर्ण साहित्य है। यह साहित्य नैपाल तथा तिब्बत में उपलब्ध हुआ है और धीरे धीरे प्रकाशित हो रहा है।

आस्तिक दर्शन

वैदिक दर्शन (आस्तिक) के ६ प्रधान भेद हैं—न्याय, वैशे-

षिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त। इन दर्शनों के अपने स्वतंत्र सूत्र हैं जिनपर भाष्य, वार्तिक तथा वृत्तियाँ कालान्तर में बनती गईं। इस प्रकार प्रत्येक दर्शन का विशाल साहित्य है। पर न्याय और वेदान्त का साहित्य बहुत ही बड़ा है। न्याय के सूत्रों की रचना की महर्षि गोतम ने; वैशेषिक सूत्रों की कणाद ने; सांख्य सूत्रों की कपिलने और योगसूत्रों की महर्षि पयञ्जलि ने। मीमांसा सूत्रों की जैमिनि ने ; वेदान्तसूत्रों की बादरायण व्यास ने।

(१) न्यायदर्शन

न्यायदर्शन का प्रधान लक्ष्य प्रमाणमीमांसा को निश्चित करना है। प्रमाण क्या है और कितने हैं ? इसका निरूपण न्याय में किया गया है। यथार्थ अनुभव के साधन चार प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान और शब्द। अनुमान करने में अनेक अशुद्धियाँ हुआ करती हैं जिन्हें 'हेत्वाभास' कहते हैं। इनका समुचित विस्तृत वर्णन यहाँ किया गया है। चार्वाक लोग इस शरीर को ही आत्मा मानते थे, पर नैयायिकों ने बड़ी सुन्दर युक्तियों से इसका निराकरण कर 'आत्मा' को शरीर, मन तथा बुद्धि से भिन्न एक स्वतंत्र पदार्थ सिद्ध किया है। इस प्रकार न्याय ज्ञान की प्रक्रिया का खूब ही सटीक विवरण प्रस्तुत करता है। बौद्ध दार्शनिकों के साथ संघर्ष होने के कारण इस दर्शन की बड़ी उन्नति हुई। न्याय सूत्र तो बनाया महर्षि गौतम ने जिनका समय विक्रम के चार सौ पूर्व माना जाता है। इन सूत्रों पर महर्षि वात्स्यायन ने (द्वितीय शतक) बड़ा ही विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखा जिसकी व्याख्या उद्योतकर (७ श०) ने अपने 'न्यायवार्तिक' नामक नितान्त प्रौढ़ ग्रन्थ में की। इसके ऊपर वाचस्पति मिश्र (९ श०) ने 'तात्पर्यटीका' लिखी जिसकी व्याख्या उदयनाचार्य ने (१० श०) तात्पर्यपरि-

शुद्धि में किया है। मिथिला नव्यन्याय का प्रधान गढ़ था। यहाँ के तथा नवद्वीप (बंगाल) के नैयायिकों ने न्यायशास्त्र में एक नवीन धारा प्रवाहित की है जो नव्यन्याय के नाम से प्रसिद्ध है। इसे जन्म दिया मिथिला के प्रसिद्ध पण्डित गंगेश उपाध्याय (१३ श०) ने अपना युगान्तरकारी ग्रन्थ 'तत्व चिन्तामणि' लिखकर और इसे विकसित किया नवद्वीप के जगदीशभट्टाचार्य (१७ श०) तथा गदाधर भट्टाचार्य (१७ श०) ने।

(२) वैशेषिक दर्शन

इस दर्शन का मुख्य अभिप्राय जगत् के पदार्थों के स्वरूप का निरूपण करना है। इस मत में पदार्थ सात हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष, सामान्य, समवाय, अभाव। 'विशेष' नामक पदार्थ के मानने के कारण इनकी संज्ञा वैशेषिक है। द्रव्य नव होते हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। गुण चौबीस होते हैं जिनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, बुद्धि आदि मुख्य हैं। कर्म पाँच प्रकार के होते हैं—उत्क्षेपण, (ऊपर फेंकना), अपक्षेपण (नीचे फेंकना), आकुञ्चन (सिकोड़ना), प्रसारण (फैलाना) तथा गमन। सामान्य नित्य, एक तथा अनेक में अनुगत रहता है। दो वस्तुओं में पार्थक्य दिखलाने वाला पदार्थ 'विशेष' कहलाता है। नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते हैं जो गुण गुणी, जाति व्यक्ति, क्रिया क्रियावान् आदि में रहता है। ये छः भाव पदार्थ हैं। किसी वस्तु के न रहने को 'अभाव' कहते हैं। वैशेषिक दर्शन के सूत्र कणाद की रचना है जिस पर प्रशस्तपाद ने अपना भाष्य लिखा है। इसी पर व्योमशिवाचार्य ने 'व्योमवती' तथा उदयनाचार्य ने 'किरणावली' नामक टीकायें लिखी हैं। श्रीधराचार्य की 'न्यायकन्दली', वल्लभाचार्य की 'न्यायलीलावती' शंकर मिश्र का उपस्कार, शिवादित्य मिश्र (१० श०) का सप्त-

पदार्थों, विश्वनाथ की मुक्तावली और अन्नंभट्ट (१७ श०) का 'तर्कसंग्रह'—अत्यन्त सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। आरम्भ में न्याय वैशेषिक अलग अलग दर्शन थे परन्तु दशम शताब्दी के अनन्तर दोनों एक दूसरे के साथ मिल गये हैं।

(३) सांख्य दर्शन

इस दर्शन का मुख्य विषय पुरुष और प्रकृति का विवेक है। इसके अनुसार जगत् के पदार्थ पचीस हैं—जगत् के मूल में प्रकृति और पुरुष दो तत्त्व हैं। प्रकृति स्वयं जड़ है। उसमें क्रिया करने की शक्ति है। पुरुष त्रिगुण (तीन गुणों) से भिन्न विवेकी, तथा चेतन है। इसमें क्रिया करने की शक्ति नहीं है। पर वह चेतन है। पुरुष और प्रकृति के संयोग से सृष्टि का निर्माण होता है। जिस प्रकार से लगड़ा और अन्धा दोनों आपस में सहायता पहुँचाकर किसी स्थान पर पहुँच जाते हैं उसी प्रकार पुरुष और प्रकृति के संयोग से सृष्टि होती है। प्रकृति अन्धी है और पुरुष लगड़ा है। इनके संयोग से पदार्थों का परिणाम होता है—महत् (बुद्धि), अहंकार, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन, पञ्चतन्मात्रा तथा पञ्चमहाभूत (पृथिवी, अप्, तेज, वायु और आकाश)। सांख्य सत्कार्यवादी है जिसका अर्थ है कि कारण में पहले से ही कार्य रहता है। कार्य कोई नया पदार्थ नहीं है बल्कि उसी कारण का एक नया (व्यक्त) रूप है। पुरुष और प्रकृति के विवेक न होने से ही संसार है और दोनों के विवेक हो जाने पर मोक्ष। सांख्य दर्शन के प्रवर्तक 'कपिल मुनि' हैं और इनका ग्रन्थ है सांख्यसूत्र। पञ्चशिख का 'षष्टितन्त्र' इस शास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ है पर इस समय उपलब्ध नहीं होता। ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका इस शास्त्र का प्रामाणिक तथा प्राचीन ग्रन्थ है।

इसके ऊपर आचार्य माठर की माठरवृत्ति, गौड़पाद का भाष्य, वाचस्पति की तत्त्वकौमुदी प्रसिद्ध टीकायें हैं। विज्ञानभिक्षु (१६ श०) इस मत के प्रसिद्ध आचार्य हैं जिनका सांख्यप्रवचनभाष्य मुख्य ग्रन्थ है। यह सांख्यसूत्रों पर भाष्य है।

(४) योगदर्शन

सांख्य ईश्वर को नहीं मानता है। इसीलिये वह 'निरीश्वर' कहलाता है। परन्तु योग ईश्वर को मानता है। इसीलिये इसे सेश्वर सांख्य कहते हैं। चित्त-वृत्ति के निरोध को 'योग' कहते हैं। विवेक की सिद्धि के लिये योग के आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। 'यम' का अर्थ होता है संयम। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (किसी का धन न चुराना), ब्रह्मचर्य और अप्रतिग्रह ये यम के भेद हैं। नियम पाँच हैं—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्राणिधान (ईश्वर में भक्तिपूर्वक सब कर्मों का अपर्ण)। स्थिर तथा सुख देनेवाले जो बैठने के प्रकार हैं उन्हें आसन कहते हैं। आसन जय होने पर श्वास के गति-विच्छेद का नाम 'प्राणायाम' है। जब इन्द्रियाँ विषय से हटकर भीतर हो जाती है तब 'प्रत्याहार' होता है। धारणा=किसी देश में (जैसे नासिका या जिह्वा के अग्रभाग पर) चित्त को लगाना। एकाग्र चित्त को 'ध्यान' कहते हैं। विक्षेपों को हटाकर चित्त का एकाग्र होना 'समाधि' कहलाता है। योग के आदि आचार्य पतञ्जलि हैं जिनका सूत्रग्रन्थ योगसूत्र है। इस दर्शन के ऊपर व्यासभाष्य अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। इसके ऊपर वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्व वैशारदी' तथा विज्ञानभिक्षु की 'योगवार्तिक' टीकायें प्रसिद्ध हैं। यह व्यवहार को बतलाता है जो इसकी खास विशेषता है।

(५) मीमांसा दर्शन

मीमांसा का उद्देश्य वैदिक कर्मकाण्ड में उपलब्ध होनेवाले विरोधों के परिहार में है। वैदिक वाक्यों के अर्थ का निरूपण करना मीमांसकों का प्रधान कार्य है। ये लोग कर्म के ही ऊपर विशेष ज़ोर देते हैं। कर्म ही सब फल का दाता स्वयं है। अतः ये लोग ईश्वर की सत्ता मानने के लिये उद्यत नहीं। वेद-विहित-कर्म ही धर्म है। उस कर्म के करने से 'अपूर्व' उत्पन्न होता है और इसी अपूर्व से फल की उत्पत्ति होती है। मीमांसक लोग वेद को नित्य मानते हैं। वेद अपौरुषेय है अर्थात् किसी पुरुष के द्वारा इसकी रचना नहीं की गई है। मीमांसा के सूत्रों की रचना महर्षि जैमिनि ने की है। और भाष्य लिखा शबरमुनि ने। शबर के भाष्य पर दो आचार्यों ने दो प्रकार की व्याख्यायें लिखी हैं। इन आचार्यों का नाम है—कुमारिलभट्ट और प्रभाकरभट्ट। कुमारिल ने श्लोकवार्तिक और तन्त्र-वार्तिक की रचना कर मीमांसा शास्त्र का विपुल प्रचार किया। शंकराचार्य के साथ मिलकर बौद्धधर्म का पुनः उद्धार किया। प्रभाकरभट्ट ने लघ्वी तथा बृहती नामक दो व्याख्यायें लिखीं। कुमारिल का सम्प्रदाय खूब फैला। प्रभाकर का सम्प्रदाय उतना लोकप्रिय न हो सका।

(६) वेदान्त दर्शन

वेदान्त दर्शन की अनेक शाखायें हैं। उपनिषद् ही मुख्यतः वेदान्त है क्योंकि वे वेद के अन्तिम भाग होने के अतिरिक्त श्रुति के मुख्य सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। वेदान्त सूत्रों की रचना बादरायण व्यास ने की जिन पर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपने मत के अनुसार भाष्य लिखे। शङ्कराचार्य का भाष्य इसमें सबसे प्रसिद्ध है

शङ्कर अद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठापक हैं। इस मत का सिद्धान्त यह है—ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः। अर्थात् ब्रह्म ही सत्य है। जगत् मिथ्या है। जीव ही ब्रह्म है उससे भिन्न नहीं। जीव और ब्रह्म की एकता मानने के कारण ही यह मत अद्वैत के नाम से विख्यात है। सदा से यह मत लोकप्रिय रहा है और आज भी है। अद्वैतमत का विशाल साहित्य है जिसे अनेक आचार्यों ने अपने मौलिक रचनाओं से परिपुष्ट किया है। आचार्य के शिष्यों में मण्डन मिश्र, (सुरेश्वराचार्य) तथा पद्मपादाचार्य मुख्य हैं। वाचस्पति मिश्र ने 'भामती' नामक व्याख्या शाङ्करभाष्य पर लिखी है। मधुसूदन सरस्वती की 'अद्वैतसिद्धि' इस विषय का नितान्त प्रौढ़ तथा प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

ब्रह्मसूत्रों पर रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ ने अपने मत के अनुसार पाण्डित्यपूर्ण भाष्य बनाये तथा वैष्णवधर्म के नये नये सम्प्रदाय चलाये। इन लोगों का भी अलग-अलग सम्प्रदाय है और विस्तृत साहित्य है। इनका दार्शनिक कोण भी भिन्न-भिन्न है।

तन्त्र

तन्त्रों के विषय में अनेक भ्रम फैले हुए हैं। अशिक्षित साधारण जन का बात न्यारी है। शिक्षित लोगों में भी तन्त्र के विषय में अनेक भ्रान्त धारणायें दृष्टिगोचर होती हैं। यह सब तन्त्रों की उदात्त भावनायें और विशुद्ध आचर-पद्धति के न जानने का परिणाम है। तन्त्र शब्द का व्यापक अर्थ शास्त्र, सिद्धान्त, अनुष्ठान, विज्ञान आदि है। तन्त्रों का ही दूसरा नाम आगम है। 'आगम' वह शास्त्र है जिसके द्वारा भोग और मोक्ष के उपाय बुद्धि में आते हैं। आगम निगम का पूरक माना जाता है। आगम से अभिप्राय तन्त्रों से है और निगम का तात्पर्य वेद से है। हमारी

संस्कृति निगमागममूलक है। उसकी जानकारी के लिये निगम के साथ आगमों का जानना बहुत जरूरी है। देवता के स्वरूप, गुण, कर्म आदि का जिसमें चिन्तन किया गया हो, पटल, पद्धति, कवच नाम सहस्र और स्तोत्र इस पाँच अंग वाली पूजा का जहाँ विधान हो—उन ग्रन्थों को तन्त्र कहते हैं। तन्त्र की पूजा में मत्स्य, मांस, मीन, मुद्रा तथा मैथुन का विधान है। इन्हें 'पञ्चमकार' कहते हैं। कुछ लोगों ने इन्हें भौतिक अर्थ में लेकर तान्त्रिक पूजा को कुत्सित बना दिया है परन्तु वस्तुतः इन्हें आध्यात्मिक अर्थ में लेना चाहिये। तान्त्रिक पूजा सात्त्विक होती है।

दार्शनिक दृष्टि से तन्त्र तीन प्रकार के हैं—कुछ द्वैत के प्रतिपादक, कुछ द्वैत और अद्वैत दोनों के तथा और कुछ केवल अद्वैत के। देवता-भेद से तन्त्र तीन प्रकार के हैं—(१) वैष्णव तन्त्र—जिसे पाञ्चरात्र कहते हैं, (२) शैव तन्त्र—जिनमें पाशुपत, सिद्धान्ती तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन के मानने वाले त्रिविध शैव प्रधान हैं। पाशुपत सम्प्रदाय पश्चिम भारत में कभी बड़ा ही प्रसिद्ध था। सिद्धान्तियों का स्थान दक्षिण में है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन का सम्बन्ध काश्मीर से है। शक्ति-पूजन में भी अनेक सम्प्रदाय हैं जिनमें दो मुख्य है—कौलाचार और समयाचार। शाक्त तन्त्र मुख्यतया अद्वैतवादी है। उसका कहना है कि जब तक भक्त भगवती के साथ एकता स्थापित नहीं करता, तब तक वह उसकी पूजा का अधिकारी नहीं बनता। शिव और शक्ति का सामरस्य ही मूल तत्त्व है। न तो शिव के बिना शक्ति है और न शक्ति के बिना शिव। दोनों का सामञ्जस्य ही मूल अद्वैत-तत्त्व का प्रतीक है। तन्त्रों का विशाल साहित्य है जो धीरे-धीरे प्रकाशित हो रहा है।

न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः।
नानयोरन्तरं किञ्चित् चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥

द्वादश परिच्छेद

संस्कृत का महत्त्व

संस्कृत बोलचाल की भाषा

संस्कृत के स्वरूप का विचार करते समय यह जानना जरूरी है कि लोक-व्यवहार में उसका क्या रूप था। वह बोल-चाल की भाषा थी या नहीं ? इसके विषय में दो विरोधी मत हैं। कुछ लोगों का कहना है कि प्राकृत ही बोल-चाल की भाषा थी। संस्कृत तो केवल साहित्यिक भाषा है जिसका प्रयोग ग्रन्थों में ही होता था, बोल-चाल में नहीं। इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि यह बोल-चाल की भी भाषा रही है। किसी समय में भारतीयजनता अपने भावों को इसी भाषा के द्वारा प्रकट किया करती थी। धीरे धीरे प्राकृत के उदय होने से इसका व्यवहार-क्षेत्र कम होने लगा परन्तु फिर भी इसका चलन तथा व्यवहार शिष्ट लोगों में बना ही रहा।

महर्षि यास्क ने निरुक्त नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है जिसमें कठिन वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलाई गई है। इस ग्रन्थ का प्रमाण संस्कृत को बोलचाल की भाषा सिद्ध कर रहा है। वैदिक संस्कृत से भिन्न साधारण जनता की जो बोली थी उसको यास्क ने स्थान स्थान पर 'भाषा' कहा है। उन्होंने वैदिक कृदन्त शब्दों की व्युत्पत्ति उन धातुओं से की है जो लोकव्यवहार में आते थे*। उस समय भिन्न भिन्न प्रान्तों में संस्कृत शब्दों के जो रूपान्तर तथा विशिष्ट प्रयोग काम में लाये जाते थे उन सब का उल्लेख

---

* भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमा कृतो भाष्यन्ते—निरुक्त २।२

यास्क ने किया है। उदाहरणार्थ 'शवति' क्रियापद का प्रयोग कम्बोज देश (वर्तमान पञ्जाब का पश्चिमोत्तरप्रान्त) में 'जाने' के अर्थ में किया जाता था, परन्तु इसका संज्ञा-पद 'शव' (मुर्दा) का प्रयोग आर्य लोग करते थे। पूर्वी प्रान्तों में (प्राच्य) में 'दाति' क्रियापद का प्रयोग 'काटने' के अर्थ में होता था, परन्तु उत्तर के लोगों में इसी से बने हुए 'दात्र' शब्द का प्रयोग हँसिया के अर्थ में होता था। ‡ इससे स्पष्ट है कि यास्क के समय में (विक्रम से लगभग सात सौ वर्ष पूर्व) संस्कृत बोलचाल की भाषा थी।

पाणिनि के समय (विक्रम पूर्व पाँच सौ) में संस्कृत का यह रूप बना ही रहा। पाणिनि भी इस बोली को भाषा ही के नाम से पुकारते हैं। दूर से पुकारने के समय तथा प्रत्यभिवादन के अवसर पर पाणिनि ने प्लुत स्वर का विधान बतलाया है। यदि दूर से कृष्ण को पुकारना होगा तो संस्कृत में 'आगच्छ कृष्ण३' कहना पड़ेगा। यहाँ पाणिनि के अनुसार कृष्ण का अकार प्लुत होगा † उसी प्रकार अभिवादन करने के अनन्तर जो आशीर्वाद दिया जायगा वहाँ पर भी प्लुत करना पड़ेगा। जैसे देवदत्त नामक कोई छात्र गुरु को इस प्रकार प्रणाम करे 'आचार्य देवदत्तोऽहं त्वामभिवादये (हे गुरु जी! मैं देवदत्त आपको प्रणाम कर रहा हूँ)' तो गुरु यह कहकर आशीर्वाद देगा—'आयुष्मान् एधि देवदत्त३' अर्थात् आयुष्मान बनो हे देवदत्त। इस आशीर्वाद वाक्य में देवदत्त के अन्त का अकार प्लुत हो जायगा, यह पाणिनि की

‡ शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते, विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु—निरुक्त, वहीं।

† दूराद्धूते च। ८।२।८४

व्यवस्था* है। इन नियमों का प्रयोग तभी होगा जब भाषा वस्तुतः बोली जाती होगी। निरुक्तकार के समान पाणिनि ने संस्कृत के उन रूपान्तरों को दिखलाया है जो पूर्वी तथा उत्तरी लोगों में व्यवहृत किये जाते थे। बोलचाल के बहुत से मुहावरे पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में किये हैं जैसे 'दण्डा-दण्डि' (डण्डा डण्डी, लाठा लाठी), केशाकेशि (नोचा नोची, बालों को खैंचकर होनेवाला युद्ध), हस्ताहस्ति (हाथा हाथी या हाथा-पाई), उदरपूरं भुङ्क्ते (पेटभर खाता है) इत्यादि। इतना ही नहीं, पाणिनि ने शब्दों में स्वर-विधान के नियम को बड़े विस्तार के साथ दिया है। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि की भाषा बोलचाल की भाषा थी। यदि ग्रन्थ के लिखने में ही उसका उपयोग होता तो पूर्वोल्लिखित नियमों की उपयोगिता किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होती।

पाणिनि के अनन्तर कात्यायन के समय (विक्रमपूर्व चतुर्थ शतक) में तथा पतञ्जलि के समय (विक्रमपूर्व द्वितीय शतक) में संस्कृत भाषा बढ़ती चली गई। नये-नये शब्द आने लगे, नये-नये मुहावरों का प्रयोग होने लगा। इसीलिये कात्यायन ने वार्त्तिक लिखकर उनकी व्युत्पत्ति और व्यवस्था दिखला दी। पाणिनि ने 'हिमानी' तथा 'अरण्यानी' का प्रयोग केवल स्त्रीलिंग की कल्पना में माना है परन्तु कात्यायन के समय में महत्त्व के अर्थ में इनका प्रयोग होने लगा‡। 'अरण्यानी' का अर्थ हुआ बड़ा जंगल। इसी प्रकार कात्यायन के समय 'यवनानी' का प्रयोग यवनों की लिपि के अर्थ में होने लगा†, पाणिनि के समय में यवन की स्त्री के लिये इसका प्रयोग होता था। पतञ्जलि ने भी अपने महाभाष्य में नये प्रयोगों की

---

* प्रत्यभिवादेऽशूद्रे। ८।२।८३ ‡ हिमारण्ययोर्महत्त्वे

† यवनाल्लिप्याम्।

प्रक्रिया दिखलाई है। संस्कृत शब्दों के प्रान्तीय रूपान्तरों का उल्लेख उन्होंने भी किया है। जैसे 'चलने' के अर्थ में सुराष्ट्र (काठियावाड़) देश में 'हम्मति' का प्रयोग करते हैं। पूरब देश में 'रंहति' का, आर्य लोगों में 'गच्छति' का। पतञ्जलि ने ऐसे लोगों को शिष्ट बतलाया है जो बिना किसी अध्ययन के ही संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते थे*। इनके जो प्रयोग होते थे वह सर्वसाधारण के लिये प्रमाणभूत माने जाते थे। इनके 'महाभाष्य' में एक बड़ा रोचक संवाद दिया है जिसमें 'प्राजिता' (चलानेवाला) शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में वैयाकरण तथा सारथि में खूब वाद-विवाद हुआ है। वैयाकरण ने पूछा—इस रथ का 'प्रवेता' कौन है? सूत—आयुष्मन्, मैं इस रथ का प्राजिता (चलानेवाला) हूँ। वैयाकरण—'प्राजिता' शब्द अपशब्द है। सूत—(देवानां प्रिय) महाशय जी, आप केवल प्राप्तिज्ञ हैं, इष्टिज्ञ (प्रयोग ज्ञाता) नहीं हैं। वैयाकरण—अहो, यह दुष्ट सूत (दुरुत) हमें कष्ट पहुँचा रहा है। सूत—आप का 'दुरुत' प्रयोग ठीक नहीं है। 'सूत' शब्द सू (प्रसव, उत्पन्न करना) धातु से बना है, 'वेञ्' धातु (विनना) से नहीं। अतः यदि आप निन्दा करना चाहते हैं तो 'दुःसूत' शब्द का प्रयोग करें। इस वार्तालाप से प्रतीत होता है कि सूत का कथन अधिक उपयुक्त है। वैयाकरण तो केवल सूत्रों को ही जानता है, वास्तव में प्रयुक्त शब्दों की उसे जानकारी नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि जिस भाषा को रथ हाँकने वाला समझे और बोले उसे बोलचाल की भाषा न कहना महान् अपराध होगा।

---

* एतस्मिन् आर्यावर्ते निवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणा किञ्चदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारंगताः तत्रभवन्तः शिष्टाः। शिष्टाः शब्देषु प्रमाणम्—६।३।१०९ सूत्र पर भाष्य।

मुहावरों से तो महाभाष्य भरा पड़ा है—उन मुहावरों से, जिनका प्रयोग हमारी ग्रामीण बोलियों में आज भी विद्यमान है चाहे खड़ी बोली में भले न दीख पड़े। जैसे—"पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु" की छाया हूबहू बनारसी बोली में इस प्रकार दीख पड़ती है—गोड़ौ कइलो मूड़ौ कइली तबू काम ना भइल। अर्थ स्पष्ट है कि हर प्रकार की सेवा करने पर भी हमारा काम नहीं हुआ। इन प्रमाणों के आधार पर विक्रम के हजारों वर्ष पूर्व से लेकर विक्रम के उदय तथा बाद की शताब्दी तक संस्कृत अवश्य बोलचाल की भाषा थी, इसी परिणाम पर हम पहुँचते हैं। भारत के अनेक प्राचीन संस्कृत प्रेमी राजाओं ने यह नियम बना रखा था कि उनके अन्तःपुर में संस्कृत का ही प्रयोग किया जाय। राजशेखर ने विक्रम का नाम इस प्रसंग में निर्दिष्ट किया है। धारा नरेश राजा-भोज (११ शतक) के समय में भी संस्कृत का बोलने तथा लिखने के लिए बहुल प्रयोग होता था। हम उस जुलाहे की बात कभी नहीं भूल सकते जिसने संस्कृत में अपना परिचय देते समय कहा था :—

काव्यं करोमि नहि चारुतरं करोमि,
यत्नात् करोमि यदि, चारुतरं करोमि।
भूपाल-मौलिमणि-मण्डितपादपीठ !
हे साहसांक ! कवयामि वयामि यामि ॥

———

उपसंहार

संस्कृत का महत्त्व भारतीय संस्कृति के प्रसार में बहुत ही अधिक है। इसका महत्त्व इतना ही नहीं है कि यह हमारे धर्म-ग्रन्थों की भाषा है, प्रत्युत इससे कहीं अधिक है। भारत की प्रान्तीय भाषायें इसी की पुत्रियाँ हैं। उनका जीवन ही संस्कृत के कारण है। अतः इस भाषा के कारण भारत के प्रान्तों में परस्पर सांस्कृतिक एकता बनी हुई है। इतना ही नहीं, समग्र एशिया महाद्वीप को एकता के सूत्र में बाँधने का श्लाघनीय कार्य हमारी देववाणी के द्वारा सम्पन्न हो सकता है। सिंहल, बरमा, स्याम, कम्बोज, सुमात्रा (सुवर्णद्वीप) जावा (यवद्वीप) मलय प्रदेश आदि देशों की भाषाओं में आधे से अधिक शब्द संस्कृत से निकले हुए हैं। इन देशों में ब्राह्मणों ने अपना उपनिवेश बनाया और साथ ही साथ संस्कृत भाषा तथा साहित्य का प्रचार किया। इन देशों की सभ्यता वैदिक सभ्यता से अनुप्राणित है। मनु की व्यवस्था वहाँ उसी प्रकार मानी जाती है जिस प्रकार इस भारत में। चातुर्वर्ण्य का सिद्धान्त भारतीयों के समान इन देशों के अधिवासियों को भी मान्य था। बालीद्वीप में भारतीय संस्कृति तथा वैदिक धर्म अभी अपने जीते जागते रूप में है। वहाँ के पण्डित लोग (जिन्हें वहाँ 'पदण्ड' कहते हैं) आज भी गायत्री का जप करते हैं तथा अपने घरेलू व्रतों में संस्कृत मन्त्रों का उच्चारण करते हैं, परन्तु भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण वे उनके अर्थ समझने में नितान्त असमर्थ होते हैं।

संस्कृत साहित्य की गौरव-गाथा अब समाप्त की जाती है। उसकी प्राचीनता, व्यापकता तथा उपादेयता से हमने परिचय प्राप्त किया। इन पूर्वी देशों का साहित्य हमारे ही साहित्य का उत्तराधिकारी है। रामायण तथा महाभारत की कथायें जिस प्रकार हमारा मनोरञ्जन करती हैं उसी प्रकार 'कवि' भाषा में निबद्ध होकर वे जावा-निवासियों का भी चित्त प्रफुल्ल बनाती हैं। तथ्य की बात तो यह है कि हमारे संस्कृत साहित्य ने मूकों को वाणी प्रदान की है, भाषाओं को लिखित भाषा बनने की योग्यता दी है तथा जीवन को सानन्द तथा सरस बनानेवाली कोमल काव्यकला तथा नाट्यकला का उन देशों में प्रादुर्भाव कर वहाँ के निवासियों को सभ्य, शिक्षित तथा शिष्ट बनाया है। इस प्रकार संसार की समग्र भाषाओं से बढ़कर संस्कृत का सांस्कृतिक महत्त्व है। इसकी सम्पत्ति तथा समृद्धि से हमें अपने साहित्य को पुष्ट तथा समर्थ बनाना चाहिए, इस विषय में क्या कोई सन्देह कर सकता है ?

धन्योऽयं भारतो देशो, धन्येयं सुरभारती।
तत्पूजका वयं धन्या, अहो धन्यपरम्परा॥
स्वैरं वाङ्मयरत्नानि विचिन्वन्तु विपश्चितः।
इति हेतोर्मया नव्यो ग्रन्थालोकः प्रकाश्यते॥

